उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 26, अंक 2
जुलाई, 2012

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 26 अंक 2 जुलाई, 2012

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

व्याकरणदर्शन और न्याय में करण-मीमांसा

अरुण मिश्र

न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में 'प्रमाण' पदार्थ को सर्वप्रथम रखा गया है। इससे इसकी महत्ता स्पष्ट है। प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन होने के कारण ही प्रमाण को उद्देश सूत्र में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से 'प्रमाण' शब्द की निष्पत्ति होती है, इसीलिये प्रमाण का लक्षण 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' के रूप में किया गया है। इस लेख में 'करण' पद को व्याकरणदर्शन और न्याय की दृष्टि से स्पष्ट करने के पश्चात् वैयाकरण के मत में दोष दिखाते हुए न्याय में की गयी व्याख्या को समीचीन कहा गया है। वाक्यपदीयम् तथा उसके ऊपर हेलाराज की व्याख्या एवं अम्बाकर्त्रीव्याख्या को आधार बनाकर व्याकरणदर्शन में करण विषयक मत को स्पष्ट किया गया है। पुनः न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, न्यायभाष्यवार्त्तिकतात्पर्यटीका एवं न्यायवार्त्तिक–तात्पर्यपरिशुद्धि को आधार बनाकर न्याय मत को स्पष्ट किया गया है।

पाणिनी करण को 'साधकतमं करणम्' (1/4/42) कहते हैं। यहाँ 'तमप्' प्रत्यय का प्रयोग कर कहा गया है कि क्रिया की सिद्धि में जो सर्वोपकारक है वह करण है। 'साधकतमं' पद को समझने से पूर्व 'साधक' पद को समझना आवश्यक है। 'साधयतीति साधकः' के आधार पर साधक कर्त्ता को ही कहा जा सकता है, तो पुनः करण को साधक और उससे आगे साधकतमं कैसे कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि क्रिया को करते हुए ही कोई पद कारकत्व प्राप्त करता है। पद के कारकत्व के लिये आवश्यक है कि वह क्रिया से सम्बन्धित हो, और जो क्रिया से सम्बन्धित नहीं है वह कारक नहीं है। क्रिया की सिद्धि में कोई पद अपने व्यापार के कारण कारक कहलाता है। इस अर्थ में करण में भी कारकत्व होता है और वही साधक है।

करण को कारक के अतिरिक्त व्यापारवान् असाधारण–कारण भी कहा गया है। कारण दो प्रकारक होते हैं – साधारण और असाधारण। जो कार्य मात्र के प्रति कारण है, वे साधारण कारण कहलाते हैं। जैसे– ईश्वर,

ईश्वर का ज्ञान, ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का प्रयत्न, अदृष्ट, कार्य का प्रागभाव, दिक् और काल। इन आठ साधारण कारणों के अतिरिक्त अन्य सभी कारण असाधारण–कारण हैं। असाधारण–कारणों में जो सर्वोपकारक है वह करण है। करण में अतिशयत्व पाया जाता है। अतिशयत्व व्यापार है, इसीलिये 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्' भी कहा गया है। जो जिस कारण से पैदा होकर उसके जिस कार्य का उत्पादक होता है, वह उस कारण का उस कार्य के प्रति व्यापार कहलता है। अन्तिम कारण कार्य के अन्य असाधारण–कारणों का व्यापार है। उस अन्तिम कारण को छोड़ अन्य सभी असाधारण– कारण व्यापारवान् होते हैं। कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में अर्थात् उत्पत्ति क्षण में ये व्यापारवान् असाधारण–कारण साक्षात् रूप से उपस्थित नहीं होते हैं। ये साक्षात् सम्बन्ध से कारण न होकर व्यापार घटित सम्बन्ध से कारण होते हैं। ये करण नहीं हैं। कार्य के उत्पत्ति क्षण में जो कारण व्यापार घटित सम्बन्ध से उपस्थित न होकर साक्षात् रूप से उपस्थित होते हैं करण कहलाते हैं।

न्याय में करण की चर्चा प्रमाण के प्रसंग में किया गया है, परन्तु भर्तृहरि अपने वाक्यपदीयम् के साधनसुमद्देश में करण की चर्चा स्वतंत्र रूप से करते हैं। उनके अनुसार करण प्रयोक्ता की विवक्षा अर्थात् अभिप्राय से होता है।

I

क्रिया की सिद्धि में अनेक सामग्री साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं। उन सभी का साधनत्व होता है, अतः प्रश्न उठता है कि उनमें से अतिशय कौन है जिससे कि करण का साधकतम होना सिद्ध हो। इसी आशंका से भर्तृहरि करण का लक्षण स्पष्ट करते हैं। इस आशंका को हेलाराज अपनी प्रकाशव्याख्या में निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं – "तत्र क्रियासंसिद्धौ सामग्र्याः साधनत्वात् कोऽतिशयः करणस्य येन तत् साधकतमं स्यादित्याशंक्य लक्षणमाह।"[1]

भर्तृहरि के अनुसार जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया की परिनिष्पत्ति होती है वहाँ विवक्षा से करणत्व होता है।

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वं तदा स्मृतम्।।[2]

इस कारिका की व्याख्या करते हुए हेलाराज कहते हैं कि जिस व्यापार के अनन्तर अव्यवधान से क्रिया की परिनिष्पत्ति होती है वह प्राप्त

व्यापार विवक्षा से अतिशय कहलाता है। वह अतिशय व्यापार साधकतम है तथा करण कहलाता है। जैसे– कुल्हाड़ी छेद से छेद्य को प्रवेश कर अवयव का विभाजन करता हुआ अधिकरणादि नामक अन्य कारकों से सर्वोपकारक है अतः करण कहलाता है – ''सन्निपत्योपकारिषु सर्वेष्वपि साधनेषु यद्व्यापारानन्तरभाविनी क्रिया लक्ष्यते (विवक्ष्यते) तदवाप्तातिशय साधकतमं करणम्। तद्यथा छेदेन दात्रमनुप्रविश्य छेद्यमवयवविभागं साधयत् प्रकृष्टोपकारतामासादयत्यधिकरणादिकारकान्तरेभ्यः।''[3]

वाक्यपदीयकार करण को भाषा के स्तर पर विचार करते हुए कहते हैं कि करण का विषय कारक के रूप के आधार पर निश्चित होता है, न कि वाह्य वस्तु की सत्ता के आधार पर। करण वस्तुतः अनिर्देश्य होता है, और निश्चय ही वस्तु करण के रूप में व्यवस्थित नहीं होता है। यह निश्चय नहीं कि तलवार या कुल्हाड़ी ही करण हो सकता है, अन्य नहीं। यह आवश्यक नहीं कि नियतजातीय वस्तु ही करण हो। वैयाकरण के अनुसार 'बलेन लुनाति' या 'आलोकेन पश्यति' नामक क्रियाओं में कुल्हाड़ी का करण के रूप में अनादर कर बल या आलोक को साधकतमत्व होने से वे करण के रूप में विवक्षित हैं। हेलाराज के शब्दों में – ''विवक्षोपारूढ़ एव ह्यर्थो व्याकरणेऽङ्गम्, न बाह्यवस्तुसत्तयेत्यर्थः। तथा च 'बलेन लुनाति', 'आलोकेन पश्यति' इत्यादावनादृत्य दात्रादिकं बलादि साधकतमत्वेन विवक्षितं करणम्।''[4]

वैयाकरण की दृष्टि में 'करण' पदार्थ वस्तुतः अनिर्देश्य होता है और न ही उसका वस्तु व्यवस्थित होता है। वक्ता अपनी विवक्षा से किसी भी पद को करण के रूप में प्रयोग कर सकता है। वैयाकरण स्थाली को भी करण के रूप में प्रयोग करने से नहीं चूकते। वाक्यपदीयम् में करण के इस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि –

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम्।
स्थाल्या पच्यते इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः।।[5]

करण को वस्तुतः अनिर्देश्य या अनिरूपित होने का तात्पर्य यह है कि हम यह नहीं कह सकते कि 'यही करण होता है' या 'यह करण ही होता है'। दूसरे शब्दों में वस्तु करणतया नियत नहीं होता है। यह नहीं कह सकते कि तलवार या कुल्हाड़ी ही करण होता है, और हाँड़ी (स्थाली) करण नहीं हो सकता है। 'स्थाल्या पच्यते' नामक कथन में हाँड़ी में भी करणत्व होने की विवक्षा देखी जाती है। यह भी नहीं कह सकते कि तलवार या कुल्हाड़ी

करण ही होता है क्योंकि 'असिश्छनत्ति' में तलवार का कर्तृत्व देखा जाता है। हाँड़ी जो कि टूटे वर्तन के खंड के आकारक होता है एक छोटा ज्ञात अधिकरण है। हाँड़ी छोटे टूटे वर्तन के खंड के आकरक होने के फलस्वरूप पाक कार्य में शीघ्रतर साधन के रूप में अनुभव किया जाता है। इससे हाँड़ी को करण के रूप में प्रयोग करने की विवक्षा होती है। उस प्रकार से यह स्पष्ट है कि 'स्याल्या पच्यते' में स्थाली का तृतीयान्त प्रयोग लोक में प्रचलित है, और आर्द्र इन्धन की अपेक्षा वह सुसंलग्न हाँड़ी क्रिया की सिद्धि में अधिक निकट एवं सहायक है। हेलाराज इसे निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– ''इदमेव नियतजातीयं वस्तु करणमित्येवं निरूपयितुं न शक्यते। यस्मान्न वस्तु व्यवस्थितं करणतया नियतमस्ति। प्रज्ञाताधिकरणभावा अपि हि स्थाली तनुतरकपालत्वाच्छीघ्रतरपाककार्यसाधनतयाऽनुभवत्येव वैवक्षिकं करणभावम्। तथा हि प्रयोगः करणतृतीयान्तः 'स्थाल्या पच्यते' इति लोके प्रसिद्धः। आर्द्रेन्धनापेक्षया हि सुसन्निवेशा स्थाली क्रियासिद्धौ प्रत्यासीदति।''[6]

करण और अन्य कारकों में भिन्नता यह है कि करण अन्य कारकों की अपेक्षा उपकारक होता है। इसी से करण को साधकतम या प्रकृष्टोपकारक कहा गया है। फलार्थी पुरुष उद्देश्य प्राप्त करने हेतु प्रधान–क्रिया के फल की सिद्धि के लिये करण में ही पुनः पुनः संस्कार और विनियोग आरंभ करते हैं। भर्तृहरि लिखते हैं –

करणेषु तु संस्कारमारभन्ते पुनः पुनः।
विनियोगविशेषांश्च प्रधानस्य प्रसिद्धये।।[7]

कर्त्ताओं का संस्कार और विनियोग जनन विषयक उत्साह इतर कारकों में नहीं अपितु करण में ही परिलक्षित होता है, क्योंकि करण रूप उपाय द्वारा ही क्रिया–फल रूप उपेय में प्रवृत्ति होती है। काष्ठ पाक रूपी क्रिया–फल का करण होता है। काष्ठ रूप करण को एक के ऊपर एक अग्नि में स्थापन संस्कार तथा आग में ज्वाला के लिये उसका पुनः पुनः स्थापन विनियोग कहलाता है। फल की सिद्धि के लिये फलार्थी को ये व्यापार अनेक बार करना पड़ता है। हेलाराज के शब्दों में– ''प्रधानस्य क्रियालक्षणस्यार्थस्य प्रसिद्धये प्रकृष्टोपकारकस्य करणस्यैव फलार्थिनः संस्कारमुत्तेजनादिक–मसकृद्व्यापारणं चारभन्ते। उपायद्वारेणोपेये प्रवृत्तेः। तत्र काष्ठानामुपधानं संस्कारः। पुनः पुनश्चोपस्थापनं विनियोगः।''[8]

बहुत ऐसे वाक्य हैं जहाँ अनेक पद तृतीयान्त होते हैं, जैसे – 'अश्वेन पथा दीपिकया याति'। यहाँ प्रश्न उठता है कि बहुतों का

प्रकृष्टोपकारकत्व एक समय में कैसे संभव है? हेलाराज इस समस्या को निम्न रूप से व्यक्त करते हैं – ''इह कथमुपकारप्रकर्षः 'अश्वेन पथा दीपिकया याति' इति बहूनामेककालं विवक्ष्यतः''[9] इस समस्या के निदान में भर्तृहरि लिखते हैं –

स्वकक्ष्यासु प्रकर्षश्च करणानां न विद्यते।
आश्रितातिशयत्वं तु परतस्तत्र लक्षणम्।।[10]

जिस वाक्य में अनेक तृतीयान्त पद होते हैं वहाँ बहुतों का करणत्व होता है और वहाँ करण होने की अवस्था समान होती है। इसीलिये वे सजातीय कहलाते हैं। समान करण होने की अवस्था में तमप् प्रत्यय वहाँ आश्रित नहीं होते हैं। उन साधनत्वरूप धर्म का अतिशयत्व कर्त्रादि नामक अन्य कारकों की अपेक्षा से ही होता है। जहाँ अतिशयत्व आश्रित है वही करण है, और अतिशयत्व का आश्रय होना ही करण का लक्षण है। अन्य कारकों की अपेक्षा से करण प्रकृष्टोपकारक होता है। यहाँ साधकतम् से सर्वोपकारकत्व विवक्षित नहीं अपितु कारक सामान्य के वाचक साधक शब्द से ही सर्वोपकरकत्व का ज्ञान होता है। प्रकर्ष करण–जाति का विशेषण होता है, इसीलिये इसे करणत्वजातीयापेक्ष कहा गया है। करणत्व जाति की अपेक्षा रखने वाला इस प्रकर्ष पद का 'अश्वेन पथा दीपिकया याति' में आश्रय नहीं होने से अश्वादि पदों को इतर कारक की अपेक्षा से और सर्वोपकारकत्व प्राप्त होने से वैयाकरण के अनुसार उन्हें करण कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। हेलाराज के शब्दों में–''स्वस्यां कक्ष्यायां करणभावावस्थायां सजातीयापेक्षः प्रकर्षोऽत्र तमप्–प्रत्ययवाच्यो नाश्रीयते, अपि तु साधनसामान्यस्यानुगतस्य कारकान्तरापेक्ष एव प्रकर्षस्तमप्प्रत्ययवाच्यः करणत्वमावेदयते। साधकशब्दाद्धि कारकसामान्यवाचिनस्तमपुत्पन्नः, तत एव प्रकर्षं गमयति। परत इति साधनान्तरात्। एवं करणजात्यपेक्षस्यातिशयस्या–नाश्रयणादश्वादीनां सर्वेषामपि साधनान्तरापेक्षया प्रतिलब्धप्रकर्षाणां करणत्वमविरुद्धम्।''[11]

वैयाकरण कहते हैं कि उक्त उदाहरण में 'अश्व', 'पथ' और 'दीपिका' तीनों ही करण हैं। अन्य देश जाना गमन रूपी क्रिया का फल हैं, और उस क्रिया में कर्त्रादि की अपेक्षा से अश्व सर्वोपकारक है, क्योंकि वह स्वव्यापार द्वारा अव्यवधान से फल अर्थात् गमन रूपी क्रिया के फल को प्राप्त कराता है। पथ भी चोरादियों के उपद्रव से रहित है। चोरादियों का उपद्रव गमन

का प्रतिबन्धक है, परन्तु राजपुरुष के होने से इस प्रतिबन्धक का अभाव होता है। प्रतिबन्धकाभाव के सम्पादन द्वारा इतर कारक की अपेक्षा से पथ भी सर्वोपकारक है। दीपिका भी अंधकार को अपने आलोक से हटाते हुए अंधकार रूप प्रतिबंधक के अभाव का संपादन करने से अन्य साधनों की अपेक्षा सर्वोपकारक है। इससे स्पष्ट है कि वैयाकरण के अनुसार "अश्वेन पथा दीपिकया याति" में तीनों का करणत्व है। इस कथन की पुष्टि के लिये अम्बाकर्त्रीव्याख्या द्रष्टब्य है– "अश्वो देशन्तरप्राप्तिरूपे गमनक्रियाफले कर्त्राद्यपेक्षया प्रकृष्टोपकारकः, स्वव्यापारद्वाराऽव्यवधानेन फलजनकत्वात्। पन्था अपि साधुश्चोराद्युपद्रवरहितः प्रतिबन्धकविरोधि राजपुरुषादिभावधारणेन प्रतिबन्धकाभावसम्पादनद्वारा इतरकारकापेक्षया प्रकृष्टोपकारकः। दीपिका अपि तमः संहतिमालोकेनापसारयन्ती प्राप्नोति प्रागुक्त–रीत्या प्रतिबन्धका–भावसम्पादनेन साधनान्तरापेक्षया प्रकर्षमिति।"[12]

क्रिया की सिद्धि के लिये कर्त्ता के व्यापार के अतिरिक्त इतर कारकों की भी प्रवृत्ति होती है। कर्त्ता द्वारा किये गये कार्य के उत्तर काल में कर्त्ता से इतर कारक अपना व्यापार करते हैं। अन्य साधनों की प्रवृत्ति से स्पष्ट है कि कर्त्ता द्वारा किया गया कार्य कर्त्ता से इतर कारकों को उत्तर काल में प्रेरित करता है। इतर कारकों के व्यापार की अपेक्षा से प्रेरण रूप कर्त्ता का व्यापार पहले होता है और इस तरह कर्त्ता के व्यापार के प्राग्भावित्व से कर्त्ता को ही साधकतम न मान लिया जाय, इसी आशंका से[13] कहा गया है कि –

स्वातन्त्र्येऽपि प्रयोक्तार आरादेवोपकुर्वते।
करणेन हि सर्वेषां व्यापारो व्यवधीयते।।14

कर्त्ता स्वतंत्र होता है। कर्त्ता के व्यापार के पश्चात् ही अन्य कारक अपना व्यापार करते हैं, अतः करण तथा अन्य कारकों में भेद करना आवश्यक है। भेद करते हुए कहा गया है कि करण–व्यापार और क्रिया की सिद्धि में व्यवधान नहीं होता है, परन्तु अन्य कारकों का व्यापार तथा क्रिया की सिद्धि में व्यवधान होता है। व्यवधान से क्रिया की सिद्धि और अव्यवधान से क्रिया की सिद्धि के आधार पर ही अन्य कारकों के व्यापार को करण के व्यापार से भिन्न किया जाता है क्योंकि करण के व्यापार के अव्यवधान से क्रिया की सिद्धि होती है। इतर कारकों के व्यापार और क्रिया की सिद्धि में व्यवधान होने से उन कारकों में साधकत्व होता है, परन्तु करण का व्यापार और क्रिया की सिद्धि में अव्यवधान होने के कारण करण को ही साधकतमत्व होता है।

अतः कर्त्ता का साधकतमत्व नहीं होता। दूसरे शब्दों में जिस व्यापार के समनन्तर क्रिया की परिनिष्पत्ति होती है वह करण है, और इस उक्ति से कर्त्ता के करणत्व होने की समस्या नहीं उठती है, क्योंकि कर्त्ता के व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि का अभाव होता है – "करणव्यापारसमनन्तरमेव क्रियासिद्धेः। अत इतरकारकाणां व्यापारव्यवधानेन क्रियासाधकत्वम्, करणस्य तु अव्यवधानेनेति करणस्यैव साधकतमत्वम्। अव्यवधानेन क्रियासाधकत्वमेव च करणत्वमिति कर्तुः करणत्वाप्रसंग इति। अयं भावः– यद् व्यापारानन्तरं क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्विवक्ष्यते तत्करणमित्युक्तेः कर्त्तुः करणत्वाप्रसंगः। कर्तृव्यापारानन्तरं क्रियासिद्ध्यभावात्।"[15]

यूँ तो कर्त्ता स्वतन्त्र होता है, परन्तु स्वातन्त्र्य में भी वह क्रिया की सिद्धि में दूर से उपकार करता ही है। कहा भी गया है कि "स्वातन्त्र्येऽपि प्रयोक्तार आरादेवोपकुर्वते"।[16] कर्त्ता का व्यापार ही अन्य सभी साधनों को प्रेरित करता है, और कर्त्ता द्वारा नियुक्त अन्य सभी साधनों का व्यापार भली–भाँति होने से क्रिया निष्पादित होती है। और वहाँ जिस तरह अधिकरणादि नामक कारक का व्यापार अन्य कारकों के व्यापार से भिन्न किये जाते हैं, उसी तरह क्रिया की सिद्धि में कर्त्ता का व्यापार भी अन्य कारकों के व्यापार से भिन्न किये जाते हैं। क्रिया की सिद्धि में किसी अन्य कर्त्ता का प्रयोजन नहीं होता है जिसके व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि संभावित हो, और उसे साधकतम् कहा जा सके। कर्त्ता तो स्वतन्त्र होता है, परन्तु अन्य साधन कर्त्ता के परतन्त्र होते हैं। करण को भी परतन्त्र कहा गया है। अन्य साधनों के कर्त्ता के अधीन होने की स्थिति में भी कर्त्ता अपने द्वारा नियुक्त अन्य साधनों के व्यापार के अनन्तर व्यवधान से क्रिया को दूर से ही साधता है। क्रिया की सिद्धि तो करण–व्यापार के साथ ही साथ होता है। इससे स्पष्ट है कि कर्त्ता का अतिशयत्व या साधकतमत्व नहीं होता है। उक्त कथन को हेलाराज निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं– "यद्व्यापारानन्तरं क्रियानिष्पत्तिस्तत्करणमित्युक्ते कर्तुः करणत्वाप्रसंगः। न हि कर्तृव्यापारानन्तरमेव क्रियासिद्धिः। साधनविनियोगे हि कर्तृव्यापारः। विनियुक्तेषु तु साधनेषु व्यापाराविष्टेषु सत्सु क्रिया निष्पद्यते। तत्र चाधिकरणादीनामिव कर्तुरपि व्यापारो विप्रकृष्यते, क्रियासिद्धौ कर्त्रन्तर प्रयोगाभावात्। पारतन्त्र्ययोगेऽपि साधनान्तराणां प्रयोक्तारः कर्तारो विनियुक्तसाधनान्तरव्यापारव्यवधानेन क्रियां दूरादेव साधयन्ति। करणव्यापारसमनन्तरमेव तु क्रियासिद्धिः। अथ वा कर्त्रा सहातिशयचिन्ता नैव संभवतीति।"[17]

वैयाकरण आगे कहते हैं कि क्रिया की सिद्धि के लिये करण को सन्निहित होना भी आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार तो करण के असन्निधान में भी क्रिया की सिद्धि संभव है। वाक्यपदीयम् में कहा गया है कि –

यथा च सन्निधानेन करणत्वं प्रतीयते।
तथैवासन्निधानेऽपि क्रियासिद्धेः प्रतीयते।।[18]

जिस तरह छेदन–क्रिया में सन्निहित कुल्हाड़ी अतिशय उपकारकत्व को प्राप्त करता हुआ करण रूप में जाना जाता है, उस प्रकार से ही 'धनाभावेन मुक्तः' में असन्निहित धन मुक्ति को साधित करता हुआ करण कहलाता है। इससे स्पष्ट है कि करण होने के लिये उसे सन्निहित होना आवश्यक नहीं है, वह क्रिया की सिद्धि से ही जाना जाता है – "दात्रादयः सन्निहिताः क्रियोपकारातिशयमासादयन्तः करणतया यथा प्रज्ञायन्ते तथैव धनाभावेन मुक्त इत्यादावसन्निहितमपि धनं मुक्तिं साधयत् करणमेव प्रसिद्धम्"।[19]

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि व्याकरण में करण पर विचार मात्र भाषा के स्तर पर ही किया गया है। भाषा में किये गये विभिन्न प्रयोगों के आधार पर ही वैयाकरण सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, फलतः तथ्यपरक तार्किक सम्बद्धता या संगति का होना अनिवार्य नहीं है। वैयाकरण के अनुसार कारक विवक्षा से होता है, फलतः एक ही पद 'मृत्पिण्ड' का विभिन्न कारक के रूप में प्रयोग संभव है। जैसे– 'मृत्पिण्डो घटं करोति' में कर्त्ता के रूप में, 'मृत्पिण्डमासाद्य घटो भवति' में कर्म के रूप में, 'मृत्पिण्डेन घटं कुलालः करोति' में करण के रूप में, 'मृत्पिण्डाद् घटो भवति' में अपादान के रूप में, 'मृत्पिण्डस्य घटो विकारः' में सम्बन्ध के रूप में, तथा 'मृत्पिण्डे घट उत्पद्यते' में अधिकरण के रूप में प्रयोग संभव है। अतः वैयाकरण के मत की समीक्षा करने से पहले न्याय शास्त्र में की गयी करण की व्याख्या की चर्चा आवश्यक है। न्याय में करण की व्याख्या प्रमाण को स्पष्ट करने के क्रम में किया गया है, अतः उस प्रसंग का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है जिस प्रसंग में करण की व्याख्या की गयी है।

II

न्याय के अनुसार तत्त्व–ज्ञान के लिये प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति नामक चार घटकों का होना आवश्यक है। जिसे अर्थ को ग्रहण करने की इच्छा या त्यागने की प्रवृत्ति होती है वह प्रमाता कहलाता है। प्रमाता जिस साधन से अर्थ को जानता है वह प्रमाण कहलाता है। जो अर्थ जाना जाता है वह प्रमेय, और उस अर्थ का ज्ञान प्रमिति कहलाता है।

भाष्यकार के अनुसार 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्'[20] अर्थात् प्रमाण से उत्पन्न अर्थ के ज्ञान में प्रवृत्तिसामर्थ्य के आधार पर यह कहा जाता है कि प्रमाण अर्थवान् होता है। अर्थ का ज्ञान जब प्रमाणतः होता है तभी प्रवृत्तिसामर्थ्य की उत्पत्ति होती है, और प्रवृत्तिसामर्थ्य के आधार पर ही प्रमाण को प्रभावशाली कहा जा सकता है। प्रमाण के विना अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। प्रमाण से ज्ञाता अर्थ को प्राप्त कर उस अर्थ को पाने की या त्यागने की इच्छा करता है। उस अर्थ को पाने या त्यागने की इच्छा ही प्रवृत्ति कहलाती है।

वार्तिककार 'प्रमाणतः' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ 'तसिल्' प्रत्यय का प्रयोग वचन एवं विभक्ति को व्यक्त करने हेतु किया गया है। सामान्य रूप से 'तसिल्' प्रत्यय का प्रयोग पंचमी विभक्ति के लिये किया जाता है, परन्तु यहाँ इसका अभिधान वचन और विभक्ति दोनों के लिये किया गया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि पंचमी विभक्ति को छोड़कर 'तसिल्' कैसे प्राप्त होता है और उससे क्या सिद्ध होता है? 'तसिल्' का प्रयोग वचन के लिये करने से संप्लव और व्यवस्था का ज्ञान होता है। यह कथन कि कोई वस्तु एक प्रमाण से, दो प्रमाणों से, दो से अधिक प्रमाणों से ज्ञात होती है संप्लव कहलाता है। यह कि एक प्रमाण से ही ज्ञान होता है व्यवस्था कहलाता है। 'तसिल्' का प्रयोग वचन के रूप में करने से इसी संप्लव और व्यवस्था का ज्ञान होता है। पुनः 'तसिल्' का प्रयोग विभक्ति के रूप में करने से हेतु और करण का भाव जाना जाता है। जब यह कहा जाता है कि प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होता है तो यहाँ 'तसिल्' का प्रयोग हेतु का बोध कराता है। जब यह कहा जाता है कि प्रमाण से अर्थ साधित किया जाता है तो साधकतम होने से 'तसिल्' का प्रयोग करण का बोध कराता है। उद्योतकर के शब्दों में– ''तत्र प्रमाणत इति तसिर्वचनं वचनविभक्तिव्याप्तिज्ञापनार्थम्। प्रमाणत इतीयं निमित्तपंचमी। अस्याभिधानं वचनव्याप्त्यर्थं विभक्तिव्याप्त्यर्थं च। कथं पुनः पंचमी व्यतिरेकेण तसिर्लभ्यते? लभ्यत इत्याह– आद्यादावुपसंख्यानादिति। तत् किं सिद्धं भवति? वचनव्याप्त्या संप्लवो व्यवस्था च। प्रमाणेन प्रमाणाभ्यां प्रमाणैः प्रतिपत्तिरिति संप्लवो गम्यते। प्रमाणेनैवेति व्यवस्था। विभक्ति व्याप्त्या हेतुकरणभावः। प्रमाणादर्थाधिगतिर्भवतीति हेतुत्वम्। प्रमाणेनार्थं साधयतीति साधकतमत्वात् करणार्थः।''[21]

अब प्रमाण के स्वरूप को ग्रहण करना कर्त्तव्य है। अवधारण का अर्थ यहाँ अवधारित करना होता है, और इस प्रकार प्रमाण के स्वरूप को समझा जाता है। उद्योतकर इन प्रश्नों पर विचार करते हैं कि प्रमाण का प्रमाणत्व क्या है और कौन कथन प्रमाण होता है। उदयन के अनुसार यह एक ही प्रश्न को भिन्न रूपों में लिखने की शैली मात्र है। प्रमा की उपलब्धि का हेतु प्रमाण, और उपलब्धि हेतुत्व प्रमाणत्व है। जो उपलब्धि का निमित्त है वह प्रमाण कहलाता है"– प्रमाणस्वरूपावधारणं कर्तव्यम्। किं पुनः प्रमाणस्य प्रमाणत्वम्? किं चोक्तं भवति प्रमाणमिति? उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्, उपलब्धिहेतुत्वं प्रमाणत्वम्। यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणमिति।"[22]

यहाँ समस्या उठायी गयी है कि उपलब्धि–हेतु को प्रमाण कहने से प्रमाण का यह लक्षण प्रमाता और प्रमेय में भी समान रूप से उपलब्ध है, फलतः उन दोनों में भी प्रमाणत्व मानना चाहिये या पुनः उनमें कुछ विशेष वक्तव्य है जिससे वहाँ प्रमाणत्व नहीं होता है – "समानत्वादलक्षणमिति चेत्? यद्युपलब्धिहेतुः प्रमाणम्, ननु प्रमातृप्रमेययोरप्युपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणत्वं प्रसज्येत, विशेषो वा वक्तव्य इति।"[23] वाचस्पति इस समस्या की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उपलब्धि–हेतुत्व को प्रमाता प्रमेय और प्रमाण तीनों में समान रूप से उपलब्ध मान लेने से यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित हो जाता है। यह लक्षण प्रमाता और प्रमेय में भी समान रूप से पाये जाने से इसे प्रमाण का लक्षण मानना उचित नहीं है। वाचस्पति के अनुसार उद्योतकर द्वारा प्रयुक्त 'समानत्वाद्' पद इसी समस्या को इंगित करता है – "तदेतदतिव्यापकत्वेनाक्षिपति–समानत्वादिति।"[24]

इस समस्या का निदान करते हुए उद्योतकर कहते हैं कि प्रमाण में प्रमाता और प्रमेय दोनों के चरितार्थत्व होने से स्थित विशेष हो जाती है। प्रमाण में प्रमाता और प्रमेय चरितार्थ हैं, और प्रमाण अचरितार्थ। प्रमाण में प्रमाता और प्रमेय अपना कार्य पूरा कर चुका है, परन्तु प्रमाण अपना कार्य पूरा नहीं किया है। प्रमाण का कार्य पूर्ण तब होता है जब प्रमा की उत्पत्ति होती है। यही विशेष वक्तव्य है जिससे प्रमाता और प्रमेय प्रमा की उपलब्धि के साधन नहीं है। प्रमाण यहाँ अचरितार्थ है, अतः वही उपलब्धि का साधन है। उद्योतकर की पंक्ति यहाँ द्रष्टव्य है– "अयं विशेषः, प्रमाणे प्रमातृप्रमेययोश्चरितार्थत्वात्। प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं च चरितार्थम्। अचरितार्थं तु प्रमाणम्। अतस्तदेवोपलब्धिसाधनमिति।"[25]

वाचस्पति के अनुसार उद्योतकर 'अयं विशेषः' का प्रयोग कर उठाये गये समस्या का समाधान करते हैं। 'अयं विशेषः' का अर्थ स्पष्ट करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि करण–विषय कुल्हाड़ी के व्यापार से विशिष्ट कर्त्ता साक्षात् फल–व्यापार नहीं करता है। कर्त्ता स्वयं साक्षात् फल की प्राप्ति नहीं करता है। लकड़ी का दो भागों में विभजान साक्षात् कर्तृ–व्यापार नहीं है। कुल्हाड़ी का विषय–वस्तु ही कर्तृ–व्यापार है। उद्यम से कुल्हाड़ी का लकड़ी पर गिरना तथा स्पर्शवान्, वेगवान् करणीभूत कुल्हाड़ी का लकड़ी के साथ संयोग का लक्षण कुल्हाड़ी का विषय–वस्तु है, और वही कर्तृ–व्यापार है। वाचस्पति के अनुसार करण सिद्ध और असिद्ध होता है। प्रमाण–सिद्ध इन्द्रियादि या कुल्हाड़ी सिद्ध करण हैं, और स्वर्ग प्राप्ति के लिये याग या इन्द्रिय–सन्निकर्ष असिद्ध करण हैं। जिस प्रकार से लकड़ी के दो भागों में विभाजन के उदाहरण में कर्त्ता साक्षात् रूप से फल की प्राप्ति नहीं कराता है, उसी तरह स्वर्ग के इच्छुक कर्त्ता साक्षात् रूप से स्वर्ग–व्यापार नहीं करता है। वह तो स्वर्ग की प्राप्ति के लिये याग नामक असिद्ध करण साधित करता है। स्वर्ग तो अपूर्व रूप से व्यक्त याग–व्यापार से ही साक्षात् उत्पादित होता है। चेतना का आश्रय यह याग–व्यापार देश–काल की अवस्था के भेद से परे होता है। इसी के तुल्य यहाँ भी प्रमाण–सिद्ध इन्द्रियादि और असिद्ध इन्द्रिय–सन्निकर्षादि नामक करण व्यापार करते हुए या उत्पादित करते हुए चरितार्थ है, परन्तु अन्यत्र चरितार्थ नहीं है। अतः स्पष्ट है कि करण न कि कर्ता साक्षात् फल उत्पादित करता है। वाचस्पति के शब्दों में– "समाधत्ते–अयं विशेष इति। अयमर्थः, सर्वः कर्ता करणगोचरव्यापारो न तु साक्षात् फले व्याप्रियते। करणं च द्विधा सिद्धासिद्धं च। तत्र सिद्धं परश्वादि दारुद्वैधीभावायोद्यम्योद्यम्य दारुणि निपातयन् दारुच्छिनत्तीत्युच्यते, न तु साक्षात् कर्तृव्यापारगोचरो दारुद्वैधीभावः, किं तु स्पर्शवद्वेगवतः करणीभूतस्य परशोः संयोगस्योद्यमनिपातनलक्षणस्तु कर्तृव्यापारः परशुगोचर एव। एवं स्वर्गकामोऽपि कर्त्ता न साक्षात् स्वर्गे व्याप्रियते, किं तु तत्करणं यागमसिद्धं साधयति। स्वर्गस्तु यागव्यापारादेवापूर्वाभिधानात् चेतनाश्रयाद् देशकालावस्थाभेदा–सादितपरिणति विशेषात् साक्षादुत्पद्यते। तद्वदिहापि प्रमाणसिद्धमिन्द्रियादि, असिद्धं च तत्सन्निकर्षादि व्यापारयन्नुत्पादयन् वा करण एव चरितार्थः। करणं त्विन्द्रियादि तत्सन्निकर्षादि वा नान्यत्र चरितार्थमिति साक्षादुपलब्धावेव फले व्याप्रियते।'[26] इससे यह स्पष्ट है कि प्रमाता प्रमा की उपलब्धि का साधन नहीं है। पुनः करण जिससे फल की प्राप्ति हो चुकी है सिद्ध और जिससे नहीं हुई है वह असिद्ध कहलाता है।

चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वाचस्पति कहते हैं कि प्रमेय को उसके प्रत्यक्ष के आधार पर उसे प्रमा की उपलब्धि का हेतु नहीं कहा जा सकता है। उनके अनुसार प्रमेय को केवल प्रमाण का विषय होने मात्र के रूप में उपयोग किया जाता है। जहाँ भी कहीं प्रमेय उपलब्धि के हेतु के रूप में प्रत्यक्ष में अभिप्रेत है, वहाँ भी इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध मात्र के रूप में उसका उपयोग किया जाता है। प्रमाता तथा प्रमेय साक्षात् रूप से प्रमा का हेतु नहीं है। वाचस्पति के अनुसार तो इन्द्रिय या इन्द्रिय–सन्निकर्ष ही साक्षात् रूप से प्रमा का हेतु है। प्रमाता कर्त्ता होता है और कर्त्ता होने के कारण उसमें कर्तृत्व होता है। यदि प्रमाता में कर्तृत्व न हो तो उसे प्रमाता नहीं कहा जा सकता है, और जिसमें कर्तृत्व होता है उसे प्रमा का साक्षात् हेतु नहीं कहा जा सकता। अतः प्रमाता कर्तृत्व के कारण प्रमा का साक्षात् हेतु नहीं है। जो जो कर्त्ता है वे सभी साक्षात् फल के हेतु नहीं हैं। जिस प्रकार कुल्हाड़ी साक्षात् लकड़ी काटने का हेतु नहीं है या याग साक्षात् स्वर्ग–प्राप्ति का हेतु नहीं है, उसी प्रकार प्रमाता साक्षात् प्रमा का हेतु नहीं है। वाचस्पति के शब्दों में– "प्रमेयस्य तु प्रत्यक्षादन्यत्रोपलब्धिहेतुभाव एव तावन्नास्ति, केवल प्रमाणविषयभावमात्रेणोपयुज्यते। यत्राप्यस्य हेतुभावः प्रत्यक्षेऽभिप्रेयते, तत्रापीन्द्रियसम्बन्धमात्रे उपयुज्यते प्रमेयम्। इन्द्रियमेव तु तत्सन्निकर्षादि वा साक्षात् प्रमाहेतुः। ततः सिद्धमेतत् न प्रमाता साक्षात् प्रमाहेतुः कर्तृत्वात्। यो यः कर्ता स सर्वो न साक्षात् फलहेतुः, यथा व्रश्चनयजमानादिः तथा चायम्। तस्मात् तथा।"[27]

प्रमेय में प्रमेयत्व होता है, और यदि उसमें प्रमेयत्व न हो तो प्रमेय को प्रमेय नहीं कहा जा साकता है। प्रमेयत्व होने से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमेय साक्षात् रूप से प्रमा का हेतु नहीं है। अनुमेय जो कि एक प्रमेय है उसे साक्षात् रूप से प्रमा का हेतु नहीं माना जा सकता है। वाचस्पति के अनुसार जो जो प्रमेय है वह अनुमेयादि की भाँति प्रमा का हेतु नहीं है। अन्य प्रमेय भी अनुमेय की भाँति ही है। इसीलिये अनुमेय की भाँति अन्य प्रमेय भी साक्षात् रूप से प्रमा का हेतु नहीं हैं। प्रमाण के क्रियान्वयन से प्रमाता और प्रमेय का कर्तव्य पूरा हो जाता है। चूँकि प्रमा रूप फल की प्राप्ति नहीं हुई है, इसलिये प्रमाण का कार्य पूरा नहीं हुआ है। प्रमाण में प्रमाता और प्रमेय चरितार्थ है, और प्रमाण अचरितार्थ, अतः प्रमाण ही फल का हेतु है। फल के उद्देश्य से प्रमाता

और प्रमेय प्रवृत्त होते हैं, अतः उन्हें किसी प्रकार से फल का हेतु नहीं कहा जा सकता है। वाचस्पति की पंक्ति यहाँ द्रष्टव्य है– "तथा प्रत्यक्षं प्रमेयं न साक्षात् प्रमाहेतुः प्रमेयत्वात्। यद् यत् प्रमेयं तत्तत् सर्वं न प्रमोहतुरनुमेयादिवत्। तथा चैतत्। तस्मात् तथेति। तदिदं प्रमातृप्रमेययोः प्रमाणे चरितार्थत्वमचरितार्थत्वं च प्रमाणस्य, तस्मात् तदेव फलहेतुः। प्रमातृप्रमेये तु फलोद्देशेन प्रवृत्ते इति तद्धेतू कथन्चिदिति।"[28]

उदयन चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'अयमर्थः' पद की व्याख्या करते हैं। उदयन के अनुसार करण को सिद्ध और असिद्ध मानने से उत्पन्न समस्या के समाधान के लिये ही वाचस्पति 'अयमर्थः' का प्रयोग करते हैं। प्रमाण को सिद्ध और असिद्ध मानने से निम्न समस्या उत्पन्न होती है– यदि प्रमाण सिद्ध है अर्थात् प्रमाण से फल की प्राप्ति हो चुकी है तो प्रमाता और प्रमेय का वहाँ कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। क्योंकि जो सिद्ध ही है उसे सिद्ध से साधित नहीं किया जाता है। यह भी नहीं कह सकते कि प्रमाण अपना कर्तव्य अन्यत्र पूरा कर चुका है, इसीलिए यह सिद्ध है क्योंकि जो अन्यत्र चरितार्थ है अर्थात् अपना कर्तव्य पूरा कर चुका है उसका अन्यत्र कारकत्व नहीं होता है। जैसे जिस इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से कल आम के मीठापन का ज्ञान हुआ था उसका आज कारकत्व नहीं है। पुनः जिससे फल की प्राप्ति या व्यापार का उत्पादन नहीं होता है अर्थात् जो असिद्ध है वह कारक नहीं है। कारक होने के लिये यह आवश्यक है कि वह क्रिया से सम्बन्धित हो और फल की प्राप्ति कराये। जो कारक नहीं वह कारण नहीं हो सकता, और जो करण नहीं वह प्रमाण नहीं हो सकता है। इसी समस्या को सुलझाने के लिये वाचस्पति 'अयमर्थः' का प्रयोग करते हैं– "ननु यदि प्रमाणं सिद्धम्, किं तत्र प्रमात्रादिना कर्तव्यम्? न हि सिद्धेन सिद्धमेव साध्यते। न चान्यत्र चरितार्थस्यान्यत्र कारकत्वमस्ति। अथासिद्धम्, कथं प्रमाणम्? न ह्यसिद्धं कारकं नाम। नाप्यकारकं करणम्। नाप्यकरणं प्रमाणमित्यत आह– अयमर्थ इति।"[29]

अब वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'अयमर्थः' को स्पष्ट करते हुए उदयन कहते हैं कि करणीभूत कुल्हाड़ी के संयोग रूप व्यापारीभूत के प्रसंग में वाचस्पति यह नहीं कह पाये थे कि सहकारियों की तत्परता ही व्यापार की परिणति है। कुठार की तीक्ष्णता, वेग, लकड़ी के साथ स्पर्श, उद्यम से कुल्हाड़ी को लकड़ी पर गिराना सहकारी कहलाता है। उन सहकारियों को

तत्परता से होना ही व्यापार की परिणति है। यह व्यापार्य या उत्पाद्य कर्त्ता की चरितार्थता है। कुल्हाड़ी को लकड़ी के साथ संयोग नामक व्यापार कर्त्ता का कर्तव्य है न कि करणीभूत कुल्हाड़ी का कर्तव्य है। यहाँ अन्य कर्तव्य यथा लकड़ी के दो भागों में विभाजन का अभाव है, इसीलिये यह कहा जाता है कि कर्तव्यान्तर के अभाव से कर्त्ता का चरितार्थ होना ही स्पष्ट होता है। कुठार द्वारा छेदन--क्रिया के करणत्व में कुठार और लकड़ी के संयोग को व्यापार समझना चाहिये – "कुठारेण दारु छिनत्ति इत्यादौ छिदाकरणपरशोर्दारु–संयोगो व्यापारः।"[30] कुठार जब अपना कर्तव्य पूरा कर लेता है तब वह सिद्ध करण कहलाता है। फल की प्राप्ति से पूर्व करण असिद्ध होता है। करण का तो फल के विना निश्चयन नहीं होता है। उदयन के अनुसार करण की अचरितार्थता का यही अर्थ है। इस प्रकार कहा गया है कि प्रमाता और प्रमेय चरितार्थ तथा प्रमाण अचरितार्थ है, और इसीलिये प्रमाण ही प्रमा की उपलब्धि का साधन है। उदयन के शब्दों में-- "करणीभूतस्य परशोः, संयोगस्य व्यापारीभूतस्येति शेषः। परिणतिविशेषः सहकारिसमवधानम्। करणं व्यापार्योत्पाद्य वा फलार्थं कर्तव्यान्तराभावात् कर्तुश्चरितार्थता। करणस्य तु फलेन विना अपर्यवसानम–चरितार्थतेत्यर्थः।"[31]

चूँकि करण एक कारक है, और जो कारक नहीं वह करण नहीं हो सकता, और जो करण नहीं वह प्रमाण नहीं हो सकता, अतः करण को स्पष्ट करने से पूर्व कारक की चर्चा अपेक्षित है। नैयायिक पद के कारकत्व के लिये उसे क्रिया के साथ अन्वित होना आवश्यक नहीं मानते हैं। उनके अनुसार क्रिया के साथ अन्वित हुए विना भी पद में कारकत्व होता है। अपने मत को स्थापित करने के लिये नैयायिक उस मत को खंडित करते हैं जिस मत के अनुसार पद का कारकत्व क्रिया के साथ अन्वित होने पर ही होता है। उद्योतकर कारक के प्रसंग में अपना मत प्रस्तुत करने से पूर्व विरोधी मत निम्न रूप से प्रस्तुत करते हुए उसे अस्वीकार करते हैं।

विरोधी कहते हैं कि न्याय में प्रमाता और प्रमेय दोनों के होने से प्रमाण जन्म लेता है, परन्तु इसके विपरीत वस्तु स्थिति यह है कि प्रमाण के विना प्रमाता और प्रमेय के भाव के असिद्ध होने से प्रमातृत्व और प्रमेयत्व की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। फलतः प्रमाण के अस्तित्व से पूर्व कोई व्यक्ति प्रमाता और कोई भी वस्तु प्रमेय नहीं कही जा सकती है क्योंकि जिस प्रकार से प्रमाण शब्द कारक है उस प्रकार से प्रमेय और प्रमाता भी कारक है। और

ये कारक शब्द क्रिया के साथ अन्वित हुए विना कारकत्व को प्राप्त नहीं करते हैं। पुनः न द्रव्य मात्र तथा न क्रिया मात्र कारक है। कोई भी द्रव्य क्रिया के साथ अन्वित हुए विना कारक नहीं होता है। क्रिया मात्र को भी कारक नहीं कहा जा सकता है। ये प्रवर्तमान कारक शब्द क्रिया विशेष से युक्त के साधन में ही प्रवर्त होते हैं। प्रत्येक कारकों की अपनी क्रिया होती है और उन क्रिया विशेष से युक्त क्रिया के साधन में ये कारक प्रवर्त होते हैं। प्रमाता और प्रमेय कारक शब्द है, और क्रिया के विना उन्हें प्रवर्तित नहीं होना चाहिये। अतः प्रमाण के विना प्रमा नहीं, और प्रमा के बिना प्रमाता और प्रमेय नहीं होता है। इसीलिये कहा गया है कि प्रमाण के विना प्रमाता और प्रमेय का भाव असिद्ध होने से यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रमाता और प्रमेय दोनों को होने से प्रमाण जन्म लेता है। अद्योतकर के अनुसार– ''यदि प्रमातृप्रमेयाभ्यां सद्भ्यां प्रमाणं जन्यते, ततः प्रमाणमन्तरेण प्रमातृप्रमेयभावस्यासिद्धत्वात् प्रमातृत्वं प्रमेयत्वं चानुपपन्नमिति। कथम्? प्रमाणमिति यथा कारकशब्दोऽयं तथा प्रमेयं प्रमातेति च। न च कारकशब्दाः क्रियासंबन्धमन्तरेणात्मानं लभन्त इति। न च द्रव्यमात्रं कारकम्, न च क्रियामात्रमितिं। कारकशब्दो हि प्रवर्तमानः क्रियासाधने क्रियाविशेषयुक्ते प्रवर्तते। प्रमातृप्रमेयशब्दौ च कारकशब्दौ तावन्तरेण क्रियां न प्रवर्तेयातामिति।''[32]

वाचस्पति विरोधी मत को और अधिक स्पष्ट करते हैं। विरोधी मत के अनुसार प्रमाता रूपी कर्त्ता प्रमाण से अर्थ का ज्ञान करता है। इसीलिये प्रमाण के अभाव में कर्त्ता को प्रमाता, तथा अर्थ को प्रमेय नहीं कहा जा सकता है। प्रमाण के विना प्रमा का अभाव होने से प्रमाता और प्रमेय दोनों असिद्ध होते हैं, क्योंकि जिस प्रकार से प्रमाण शब्द कारक है उस प्रकार से ही प्रमाता और प्रमेय शब्द भी कारक है। कोई भी कारक शब्द क्रिया के साथ अन्वित हुए विना कारकत्व प्राप्त नहीं करता है, इसीलिये कहा गया है कि प्रमाण के विना प्रमा का अभाव होने से प्रमाता और प्रमेय क्रिया के साथ सम्बद्ध नहीं हो पाते, फलतः कारक नहीं कहे जा सकते हैं। चूँकि किसी भी पद का स्वरूप क्रिया के साथ सम्बद्ध होने से पहले भी होता है, अतः कोई स्वरूप मात्र के आधार पर ही उसे कारक न कह दे, इसीलिये 'न च द्रव्यमात्रमिति' का उल्लेख किया गया है। कहने का तात्पर्य है कि स्वरूप मात्र के आधार पर विरोधी मत के अनुसार कारक शब्द को कारक नहीं कहा जा सकता है। वाचस्पति 'न च क्रियामात्रम्' को स्पष्ट करने के लिये

प्रधान–क्रिया और द्रव्य के अवान्तर–व्यापार में भेद करते हैं। लकड़ी का दो भागों में विभाजन प्रधान–क्रिया है, कुल्हाड़ी को उद्यम से गिराना और स्पर्शवान् वेगवान् तीक्ष्ण कुल्हाड़ी का लकड़ी के साथ संयोग अवान्तर–व्यापार या गौण व्यापार है। साध्य नामक प्रधान–क्रिया में द्रव्य का अवान्तर–व्यापार निमित्त होता है, अतः उसके निमित्तत्व के आधार पर द्रव्य के अवान्तर–व्यापार को प्रधान–क्रिया में कारक न कह दिया जाय, इसी हेतु से 'न च क्रियामात्रम्' का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रधान–क्रिया में द्रव्य के अवान्तर–व्यापार का कारकत्व नहीं है। स्वरूप से न ही देवदत्त, न कुल्हाड़ी, न देवदत्त द्वारा कुल्हाड़ी को उद्यम से नीचे गिराने का व्यापार कारक है। अतः प्रश्न उठता है कि कारक शब्द कहाँ प्रवर्त होते हैं? कैसे हम कह पाते हैं कि अमुक कारक है? वाचस्पति के अनुसार विरोधियों के इस मत को व्यक्त करने के लिये ही उद्योतकर ने 'कारकशब्दो हीति' का उल्लेख किया है। अवान्तर क्रिया–विशेष से युक्त हेतु जिसे प्रधान–क्रिया का साधन कहा जाता है उस प्रधान–क्रिया के साधन में कारक शब्द प्रवर्त होते हैं। क्रिया–विशेष जिसे अवान्तर–व्यापार कहा गया है उस अवान्तर–व्यापार से सम्पन्न प्रधान–क्रिया के साधन से युक्त होकर ही कारक शब्द कारकत्व प्राप्त करता है। लकड़ी का दो भागों में कटना फल है जिसे प्रधान–व्यापार कहा गया है। कुल्हाड़ी को उद्यम से नीचे गिराना अवान्तर–व्यापार है और करण के क्षेत्र के अन्तर्गत है। उस प्रधान–व्यापार नामक फल में कुल्हाड़ी को उद्यम से नीचे गिराना जिसे अवान्तर–व्यापार कहा है वह कर्त्ता का अवान्तर–व्यापार है, और स्पर्शवान् वेगवान् तीक्ष्ण कुठार का संयोग कर्म का अवान्तर–व्यापार है। उस अवान्तर–व्यापार से ही लकड़ी अपने अवयव में प्राप्त स्पन्दन से उत्पन्न अवयव के विभाग से विभाजन अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में कर्ता और कर्म के अवान्तर–व्यापार से लकड़ी के अवयवों का स्पन्दन होता है, स्पन्दन से उत्पन्न अवयव के विभाग से लकड़ी दो भागों में विभाजित होती है। अत एव कहा गया है कि अवान्तर और प्रधान व्यापार से सम्पन्न कारक–शब्द कारक है। विरोधियों के इसी मत को व्यक्त करने के लिये वाचस्पति के अनुसार उद्योतकर 'प्रमातृप्रमेयशब्दौ चेति' का उल्लेख किया है। क्रिया के बिना प्रमाता और प्रमेय नामक कारक शब्दों को प्रवर्त नहीं होना चाहये। उदयन के अनुसार प्रमाता और प्रमेय का प्रधान–क्रिया के साथ इस प्रकारक सम्बन्ध वस्तु–सिद्ध है, बुद्धि–सिद्ध नहीं। वाचस्पति उपर्युक्त चर्चा को निम्न

शब्दों में व्यक्त करते हैं– "चोदयति– यदि प्रमातृप्रमेयाभ्यां सद्भ्यां प्रमाणमिति। प्रमाणमन्तरेण प्रमाया अभावात् प्रमातृप्रमेययोरसिद्धिरित्यर्थः। पृच्छति–कथमिति। उत्तरं–प्रमाणमितीति। अथ स्वरूपमात्रमेव कारकं कस्मान्न भवति, तच्च क्रियासंबद्धस्य पुरस्तादप्यस्तीत्यत आह– न च द्रव्यमात्रमिति। अस्तु तर्हि तदीयोऽवान्तरव्यापारः प्रधानक्रियायां साध्यायां कारकम्, तस्यापि प्रधानक्रियायां निमित्तत्वादित्यत आह– न च क्रियामात्रम्। न हि स्वरूपेण देवदत्तो व्रश्चनः, नापि तदीयो व्यापार उद्यमनिपातनादिर्लोष्टाद्याश्रयः। क्व तर्हि कारकशब्दः प्रवर्तत इत्यत आह–कारकशब्दो हीति। प्रधानक्रियासाधने हेतौ अवान्तरक्रियाविशेषयुक्ते कारकशब्दः प्रवर्तते। द्वैधीभावे हि फले प्रधानव्यापारे कर्तुः करणगोचर उद्यमननिपातनादिरवान्तरव्यापारः। कर्मणश्च दारुणः स्पर्शवद्वेगवत्तीक्ष्णतरकुठारसंयोग एवावान्तरव्यापारः। तेन हि दारु स्वावयवपरिस्पन्दलब्धजन्मनोऽवयवविभागाद् द्वैधीभावमनुभवति। तस्मादवान्तरप्रधानव्यापारसंपन्नं कारकमिति सामान्यतः प्रसाध्य प्रकृते योजयति– प्रमातृप्रमेयशब्दौ चेति। तावन्तरेण क्रियां प्रधान–क्रियामित्यर्थः।"[33]

उद्योतकर ऊपर उठाये गये विरोधी मत का परिहार करते हुए कहते हैं कि कारक शब्दों के कारकत्व के लिये उनका क्रिया के साथ अन्वित होना आवश्यक नहीं है। यह नहीं कहना चाहिये कि क्रिया के साथ अन्वित होने से ही कारक शब्द प्रवर्तित होते हैं। उद्योतकर कहते हैं कि पाचक शब्द के तुल्य कारक शब्दों का त्रिकालविषयत्व होने से उनके कारकत्व को क्रिया के साथ अन्वित करके नहीं समझना चाहिये। यदि कारक शब्दों के कारकत्व के लिये क्रिया के साथ अन्वित होना अनिवार्य मानते हैं तो क्रिया के बिना उनको प्रवर्तित नहीं होना चाहिये, परन्तु वे तो अपने सामर्थ्य के कारण क्रिया के साथ अन्वित हुए बिना भी प्रवर्त होते हैं। उद्योतकर कहते हैं कि कारक शब्दों का यह सामर्थ्य तीनों कालों में होता है, इसीलिये उनमें त्रैकाल्यविषयत्व होता है। प्रमाता और प्रमेय कारक शब्द हैं और नैयायिकों के मत में प्रमाण के बिना भी ये प्रवर्त होते हैं। इसीलिये उद्योतकर कहते हैं कि प्रमाता और प्रमेय के होने से प्रमाण जन्म लेता है। उनके अनुसार प्रमाण ही उपलब्धि का साधन है, प्रमाता और प्रमेय नहीं। प्रमाण साधकतम होता है और उसके साधकतमत्व के आधार पर प्रमाता और प्रमेय को उपलब्धि का हेतु या साधन नहीं माना जा सकता है। प्रमाण साधकतम होता है, प्रमाता और प्रमेय नहीं। उद्योतकर के शब्दों में– "न पाचकादिशब्दवत् त्रिकालविषयत्वात्। न

ब्रूमः क्रियासम्बन्धेनैव कारकशब्दाः प्रवर्तन्त इति। अपि तु त्रिकालविषया एते। यदि क्रियासम्बन्ध निमित्ता एव स्युः, न क्रियामन्तरेण प्रवर्तेरन्। क्रियासम्बन्धमन्तरेण तु प्रवर्तन्ते। किं पुनर्निमित्तम्? सामर्थ्यम्। तच्च त्रिष्वपि कालेष्वस्तीति। तस्मादुपपन्नं प्रमातृप्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यते, तदुपलब्धि–साधनमिति। साधकतमत्वाद् वा न प्रसङ्गः। न चाय प्रसङ्गोऽस्ति प्रमाता च प्रमेयं चोपलब्धिनिमित्तत्वात् प्रमाणं प्रसज्यत इति। कस्मात्? साधकतमत्वात्। साधकतमं प्रमाणम्, न तु प्रमातृप्रमेये।''[34]

वाचस्पति उद्योतकर द्वारा प्रस्तुत परिहार 'न, पाचकादिशब्दवदिति' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शब्द और अर्थ के बीच के सम्बन्ध की अवधारणा लोकाधीन होती है। यह सम्बन्ध इस पर निर्भर करता है कि हमारे द्वारा वह शब्द किस प्रकार से प्रयोग किया जा रहा है। लोक व्यवहार में अतीत, अनागत और वर्तमान क्रिया के साथ शब्द के सम्बन्ध की विवक्षा से कारक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यदि किसी भी शब्द का प्रयोग भविष्य में क्रिया के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है, भूत में किये गये हों, या वर्तमान में किये जा सकते हों तो उस शब्द में कारकत्व है। तात्पर्य यह है कि शब्द के स्वरूप के कारण ही शब्द में कारकत्व होता है, और शब्द का वह स्वरूप उसके क्रिया के साथ अन्वित होने से पहले और बाद में भी होता है। इसीलिये कारक शब्द के कारकत्व को क्रिया के साथ अन्वित करके नहीं समझना चाहिये। 'पाचक लाओ खाना पकायेगा', 'पाचक खाना पकाया था', 'पाचक खाना पकाता है', नामक कथनों में समान रूप से और समान अर्थ में 'पाचक' शब्द तीनों कालों में अपना प्रयोग दर्शाता है। तीनों कालों में से किसी भी काल में या तीनों कालों में पाचक शब्द का प्रयोग कारक के रूप में किया जा सकता है। पाचक शब्द के तुल्य ही अन्य कारक शब्दों का प्रयोग भी तीनों कालों में होता है। इससे स्पष्ट है कि स्वरूप के आधार पर कारक शब्द का कारकत्व होता है। यहाँ यह स्पष्ट करना चाहिये कि जिसे उद्योतकर 'सामर्थ्य' कहते हैं उसे ही वाचस्पति स्वरूप–शक्ति कहते हैं। चूँकि कारक शब्द का स्वरूप–शक्ति तीनों कालों में होता है, इसीलिये कारक शब्द का कारकत्व भी तीनों कालों में होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब देवदत्त नामक पाचक खाना नहीं बना रहा है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि पाचक (देवदत्त) की स्वरूप–शक्ति पाचन–क्रिया के साथ अन्वित है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वाचस्पति कहते हैं कि कार्य के जनन के प्रति कारक शब्दों की दो शक्तियाँ हैं– स्वरूपशक्ति और समग्र सहकारियों

की तत्परता। कारक–शब्दों के प्रयोग में उनके स्वरूप–शक्ति को ही वाचस्पति उत्तरदायी मानते हैं। वे कहते हैं कि समग्र सहकारियों के तत्पर न होने की स्थिति में भी कारक शब्द प्रवर्त होते हैं, उदाहरण स्वरूप पाचक शब्द कारक के रूप में समग्र सहकारियों के तत्पर हुए विना प्रवर्त होते हैं, और त्रिकालव्यापी स्वरूप होने में भी तीनों कालों में कार्य की असंभवता में कारक–शब्द प्रवर्त नहीं होता है। कारक–शब्दों के कार्य को तीनों कालों से जुड़े होने की मर्यादा ही कारक–शब्दों का स्वरूप है, और वह स्वरूप कारक–शब्दों की प्रवृत्ति में निमित्त होता है। त्वरित उत्पन्न प्रमा का हेतु प्रमाण के रूप में सम्बन्ध न होने पर भी प्रमाता ओर प्रमेय शब्दों की प्रवृत्ति होती है। प्रमाण के नहीं होने की स्थिति में भी प्रमाता और प्रमेय शब्दों की प्रवृत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि उपपन्न प्रमाण प्रमाता और प्रमेय से जन्य है। वह प्रमाण साक्षात् रूप से उपलब्धि का साधन है, न कि प्रमाता और प्रमेय। उपलब्धि–साधनत्व होने के बावजूद भी प्रमाता और प्रमेय के उपलब्धि–हेतु होने की समस्या यहाँ नहीं उठती है। प्रमाता और प्रमेय असाधकतम हैं, साधकतम नहीं। वाचस्पति कहते हैं कि साधकतम और असाधकतम में साधकतम के हेतु होने से कार्य झट से स्फुटित होता है, इसीलिये प्रमाता और प्रमेय को उपलब्धि हेतु होने की समस्या नहीं उठायी जा सकती है। वाचस्पति के शब्दों में– "परिहरति– न, पाचकादिशब्दवदिति। लोकाधीनावधारणः खल्वयं शब्दार्थ– सम्बन्धः। लोकश्चातीतानागतवर्तमानक्रियासंबन्धमात्रविवक्षयाकारकशब्दान् प्रयुङ्क्ते, पाचकमानय पक्ष्यतीति च, पाचकोऽयमपाक्षीदिति च, पाचकोऽयं पचतीति च तुल्यवत् त्रैकाल्यविषयप्रयोगदर्शनम्। तत् कस्य हेतोरपचत्यति पाकसंबन्धं प्रत्यस्ति स्वरूपशक्तिर्देवदत्तादाविति? द्वयी हि शक्तिः कारकाणां कार्यजननं प्रति स्वरूपं च सहकारिग्रामसमवधानं च। तत्रासत्यपि सहकारिग्रामवधाने कारकशब्दानां प्रवृत्तेः, सत्यपि च स्वरूपे त्रैकाल्यव्यापिनि त्रैकाल्ययोगिकार्यासंभवेऽप्रवृत्तेः त्रैकाल्ययोगिकार्योपहितमर्यादमेव स्वरूपं कारकशब्दानां प्रवृत्तौ निमित्तमिति। असत्यपि प्रत्युत्पन्नप्रमाहेतु प्रमाणसम्बन्धे प्रमातृप्रमेयशब्दयोः प्रवृत्तिरिति उपपन्नं प्रमातृप्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यत इति। तत् प्रमाणमुपलब्धिसाधनं साक्षात्, न प्रमातृप्रमेये इति सिद्धम्। सत्यपि चोपलब्धिसाधनत्वे प्रमातृप्रमेययोरुपलब्धिहेतुरित्यत्राप्रसंगः, साधकतमा–साधकतमयोः साधकतमे कार्यसम्प्रत्ययात् सातिशयत्वेनोद्भूतत्वात् तस्येत्याह– साधकतमत्वाद् वेति।"[35]

उदयन इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'तुल्यवदिति' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिस तरह तुला से न अधिक तौलते हैं और न कम उसी तरह अन्य कारक शब्दों का कारकत्व पाचक शब्द के तुल्य होते हैं। अन्य कारक शब्दों का कारकत्व भी उसी प्रकार तीनों कालों में होता है जिस प्रकार 'पाचक' शब्द का कारकत्व तीनों कालों में होता है। उदयन कारक के इन दो व्याख्याओं को 'वस्तुसिद्धप्रधान–क्रियासम्बन्धनिबन्धन' तथा 'बुद्धिसिद्धप्रधानक्रियासम्बन्धनिबन्धन' के मध्य भेद करके स्पष्ट करते हैं। जो वस्तुतः सिद्ध है वह वस्तुसिद्ध कहलाता है। इस मत में कारक–शब्द का क्रिया के साथ अन्वय वस्तुतः सिद्ध होने से कारक–शब्द का कारकत्व होता है। कारक–शब्द का क्रिया के साथ अन्वय वस्तुतः सिद्ध होने से कारक शब्दों के कारकत्व में त्रैकाल्यविषयत्व नहीं होता है। यह व्याख्या न्याय में स्वीकार्य नहीं है। नैयायिक बुद्धिसिद्धप्रधान–क्रियासम्बन्धनिबन्धन को मानते हैं। जो बुद्धितः सिद्ध है वह बुद्धिसिद्ध कहलाता है। कारक–शब्दों का प्रधान–क्रिया के साथ सम्बन्ध बुद्धि से सिद्ध होने से उन शब्दों में कारकत्व होता है। इस मत में शब्द के स्वरूप से ही कारक–शब्दों में कारकत्व होता है। स्वरूप के तीनों कालों में होने से कारक–शब्द में त्रैकाल्यविषयत्व होता है। उदयन के अनुसार वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त पंक्ति में 'साक्षात्' पद शेष रह गया था और इसीलिये इस भ्रम की संभावना थी कि प्रमाता और प्रमेय दोनों प्रमा के प्रति कारण ही नहीं है। इसी भ्रम के निवारण के लिये वाचस्पति 'तत्प्रमाणं' पद का प्रयोग किया है। ''साक्षात्' शब्द के नियोजन से स्पष्ट होता है कि उपलब्धि–साधन के होने में कार्य झट से स्फुटित है। अतः प्रमाण प्रमा की उपलब्धि का हेतु है, प्रमाता और प्रमेय नहीं – ''वस्तुसिद्धप्रधानक्रियासम्बन्धनिबन्धनप्रभृतयः कारकशब्दा इत्याशयवतः चोद्यं यदीत्यादिना बुद्धिसिद्धप्रधानक्रियासम्बन्धनिबन्धनप्रभृतयः कारकशब्दा इत्याशयवतः समाधानम्– न पाचकशब्दादिवदित्यादिना इति टीकायां विक्षिप्तस्य वार्त्तिकतात्पर्यस्य संक्षेपः। तुल्यवदिति तुलया संमितमिव न न्यूनं नातिरिक्तं वेत्यर्थः। तदनेन प्रपञ्चेन प्रमां प्रति प्रमातृप्रमेययोरकारणत्वमेव दर्शितमिति भ्रमो मा भूदित्युपसहारव्याजेनाह– तत्प्रमाणमिति। सत्यपि चोपलब्धिसाधनत्वे साक्षादिति शेषः। सम्प्रत्ययो झटितिस्फुटप्रत्ययः। अत्र हेतुः– सातिशयत्वेति।''[36]

कारक को स्पष्ट करने के पश्चात् न्याय में प्रमाण को स्पष्ट करने के लिये करण को, जिसे साधकतम कहा गया है, स्पष्ट किया गया है। प्रमाण जो प्रमा का करण है उसे साधकतम कहते हैं। प्रमा के करण को साधकतम कहते हैं, तो यहाँ साधकतम पद का क्या अर्थ है? यहाँ कहा गया है कि प्रमाण को साधकतम कहने से केवल वाक्य का ज्ञान होता है, अर्थ का नहीं -- ''कः खलु साधकतमार्थः साधकतमं प्रमाणमिति केवल वाक्यमभिधीयते नार्थ इति।''[37] न्याय में साधकतम की सात व्याख्याएँ की गयी हैं जिससे करण की सात व्याख्यायें हो जाती हैं।

(1) उद्योतकर 'कः खलु साधकतमार्थः?' का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिसके होने से प्रमाता तथा प्रमेय प्रमा रूप कार्य का सम्पादन करते हैं, तथा जिसके न होने से प्रमाता तथा प्रमेय प्रमा रूप कार्य का सम्पादन नहीं करते हैं साधकतम कहलाता है। इसी साधकतम को प्रमाण कहते हैं। प्रमाता और प्रमेय को प्रमा के साथ अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। इनके सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उद्योतकर कहते हैं कि प्रमाता और प्रमेय के नहीं होने में प्रमा नहीं होता है। दोनों का होना प्रमा के लिये आवश्यक है, परन्तु उन्हीं दोनों के होने से प्रमा रूपी कार्य नहीं होता है। साधकतम के होने से प्रमा रूपी कार्य होता ही है और यही अतिशय साधकतम कहलाता है। भावाभावयोस्तद्वत्ता। न प्रमातरि प्रमेये वाऽसति प्रमा भवति, सति तु भवति। न पुनः सति भवत्येव। प्रमाणे तु सति भवन्ती भवत्येव। स चायमतिशयः साधकतमत्वमुच्यते।''[38]

वाचस्पति उद्योतकर द्वारा प्रयुक्त 'कः' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस पद के प्रयोग से उद्योतकर 'साधकतम' पद का अर्थ पूछते हैं। इस पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि प्रमाण के होने से प्रमारूपी कार्य का होना, तथा प्रमाण के अभाव में प्रमा रूपी कार्य का न होना 'साधकतम' पद के अर्थ को समझने की कुंजी है। जिस साधक के होने से प्रमा का भाव और जिसके नहीं होने से प्रमा का अभाव होता है वह साधकतम कहलाता है। अतः स्पष्ट है कि भावाभाववत्ता साधकतम का अर्थ है– ''साधकतमार्थं पृच्छति– कः पुनरिति। उत्तरम्– प्रमाणस्य भावाभावयोः प्रमायाः कार्यस्य तद्वत्ता। भावाभाववत्ता साधकतमार्थः।''[39]

यहाँ उदयन वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'साधकतमार्थं पृच्छति' का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि वाचस्पति साधकों को फल उत्पन्न करने वाले अतिशय और अनतिशय साधकों में विभाजित कर साधकतम को

समझने का प्रयास करते हैं। उदयन कहते हैं कि प्रमा रूप फल को उत्पन्न करने की क्षमता के आधार पर अतिशय और अनतिशय को नहीं समझा जा सकता है। अतिशय और अनतिशय दोनों ही प्रमा रूप फल उत्पन्न करते हैं, अतः प्रमा रूप फल उत्पन्न करना साधकतम का अर्थ नहीं है। क्योंकि प्रमा रूप फल को उत्पन्न करना किसी एक साधन का वैशिष्ट्य नहीं है। वह सभी के प्रति अविशेष है, अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रमा रूप फल एक का है, दूसरे का नहीं। अतिशय और अनातिशय दोनों ही प्रमा रूप व्यापार करते हैं। अतः प्रमा रूप व्यापार करना साधकतम का अर्थ नहीं है। प्रमा रूप विलक्षण–व्यापारवत्ता सबों में समान है, अतः इस आधार पर किसी को साधकतम नहीं कहा जा सकता है। प्रमा–फल से विशेषित होना व्यापार की विशिष्टता नहीं है, अतः यह अतिशय के व्यापार की विशिष्टता नहीं हो सकती है। इसीलिये वाचस्पति 'साधकतमार्थं पृच्छति' का प्रयोग करते हैं। उदयन के शब्दों में– "साधकतमार्थं पृच्छतीति– न तावत् साधकानां फलकृतावतिशयानतिशयौ, तस्यैकस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात्। नापि व्यापारकृतौ, परस्परव्यापारविलक्षणव्यापारवत्तामात्रस्य सर्वसाधारण्यात्। फलानुगुणत्वं तु व्यापारस्याविशिष्टमेवेत्याशयवानिति हृदयशेषः।"[40]

वाचस्पति के अनुसार भावाभाववत्ता साधकतम का अर्थ है। यहाँ 'साधकतम' लक्ष्य है तथा भावाभाववत्ता साधकतम का लक्षण। लक्ष्य और लक्षण में अभेद की विवक्षा से दोनों का सामानाधिकरण्य है। प्रमाता और प्रमेय को प्रमा से अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। वाचस्पति के अनुसार इसी को स्पष्ट करने के लिये उद्योतकर 'न प्रमातरि' का प्रयोग करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रमाता तथा प्रमेय का प्रमा के साथ अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है, तो पुनः किस प्रकारक सम्बन्ध है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि प्रमोत्पाद को प्रमाता और प्रमेय के साथ अन्ययोग– व्यवच्छेद नामक सम्बन्ध है। यहाँ प्रमा से अन्य के योग का व्यवच्छेद होता है। परन्तु प्रमाण के साथ प्रमोत्पाद अयोग–व्यवच्छेद और अन्ययोग–व्यवच्छेद दोनों सम्बन्धों से सम्बन्धित है। अयोग–व्यवच्छेद से प्रमा के अयोग का व्यवच्छेद करते हैं और कहते हैं कि प्रमा की ही उत्पत्ति होती है। अन्ययोग–व्यवच्छेद से प्रमा से अन्य के योग का व्यवच्छेद करते हैं। वाचस्पति के अनुसार यही प्रमाण का अतिशय होना कहलाता है। प्रमाण रूपी शक्ति से रहित प्रमाता और प्रमेय निश्चय ही प्रमा का व्यापार नहीं करता

है। इस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि प्रमाता और प्रमेय के व्यापार होने में प्रमोत्पाद हो, परन्तु प्रमाण के व्यापार में प्रमा का होना निश्चिय है। वाचस्पति के शब्दों में– ''साधकतमार्थं पृच्छति– कः पुनरिति। उत्तरम्– प्रमाणस्य भावाभावयोः प्रमायाः कार्यस्य तद्वत्ता। भावाभाववत्ता साधकतमार्थः। लक्ष्यलक्षणयोरभेदविवक्षया समानाधिकरण्यम्, न तु प्रमातृप्रमेयान्वयव्यतिरेकानुविधानमप्यस्ति प्रमाया अन्वयव्यतिरेकयोरित्य आह–न प्रमातरीति। प्रमातृप्रमेयाभ्यां सह प्रमोत्पादस्यान्ययोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धः। प्रमाणेन तु सम्बन्धः प्रमोत्पादस्या–योगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यामित्यतिशयः प्रमाणस्य। प्रमातृप्रमेये हि प्रमाणो– पक्षीणवृत्तिनी न प्रमायां व्याप्रियेते। तेनान्तरायसम्भवान्नावश्यं प्रमातृप्रमेयव्यापारे सति प्रमा भवति। प्रमाणस्य व्यापारे तु प्रमा भवत्येवेति।[41]

पुनः यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रमाण–शक्ति से रहित प्रमाता और प्रमेय प्रमा का व्यापार क्यों नहीं करता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उदयन वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'प्रमातृप्रमेये हीति' पदों की व्याख्या करते हैं। उदयन अतिशय और अनतिशय के बीच के वैधर्म्य और साधर्म्य को स्पष्ट करते हैं। उदयन कहते हैं कि करण और क्रिया–फल (कार्य या प्रमा) के बीच अयोग–व्यवच्छेद का सम्बन्ध होना ही करण का अतिशयत्व है, और यह अतिशय तथा अनतिशय के बीच का वैधर्म्य है। वैधर्म्य मात्र ही अतिशय को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं है, अतः साधर्म्य को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति कहते हैं कि अन्ययोग–व्यवच्छेद नामक सम्बन्ध अतिशय और अनतिशय दोनों में पाया जाता है। यही कारण है कि वाचस्पति अन्ययोग–व्यवच्छेद भी स्पष्ट करते हैं। करण और क्रिया–फल अयोग–व्यवच्छेद तथा अन्ययोग–व्यवच्छेद दोनों सम्बन्धों से सम्बन्धित है। अयोग–व्यवच्छेद नामक सम्बन्ध मात्र अतिशय में पाया जाता है और अन्ययोग–व्यवच्छेद अतिशय तथा अनतिशय दोनों में पाया जाता है। अतिशय के इस अर्थ के उपरान्त ही करण क्रिया–फल को प्राप्त कराने योग्य होता है। यहाँ यह समस्या उठायी जा सकती है कि जिस प्रकार कर्त्ता की उपस्थिति मात्र होने में क्रिया–फल का होना आवश्यक नहीं, उसी प्रकार करण के होने में उसका कारकत्व अविशेषित होने से क्रिया–फल नहीं होना चाहिये। यह देखा जाता है कि परशु की उपस्थिति में छेदन हो ही–यह आवश्यक नहीं है। इसी पक्ष को ध्यान में रखते हुए वाचस्पति कहते हैं कि प्रमाण–शक्ति से रहित प्रमाता

और प्रमेय प्रमा–व्यापार नहीं करता है। उदयन के अनुसार व्यापारवान् का ही कारकत्व होता है, और परशु यदि व्यापारवान् नहीं है तो यह निश्चित नहीं कि परशु के होने से छेदन हो ही। यदि परशु व्यापारवान् होता तो यह नहीं कहा जा सकता था। वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'उपक्षीणवृत्तिनी' पद को स्पष्ट करते हुए उदयन कहते हैं कि व्यापारवान् का ही कारकत्व होता है। इसी हेतु से यह कहा जाता है कि परशु भी व्यापारवान् होते हुए ही कारण कहलाता है। और व्यापारवान् करण के फलस्वरूप ही करण और फल में अयोग–व्यवच्छेद का सम्बन्ध है, न कि व्यापारवान् कर्त्ता के फलस्वरूप, क्योंकि कर्त्ता के व्यापार के संपादन के लिए यह आवश्यक नहीं कि करण के व्यापार का संपादन हो ही। इसी आधार पर कहा गया है कि कर्त्ता के व्यापारवान् होने से कर्त्ता और फल में अयोग–व्यवच्छेद का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। परन्तु व्यापारवान्–करण के फल को छोड़ कोई अन्य संपादनीय नहीं है। व्यापारवान् करण का तो मात्र फल ही संपादनीय है। इसी आधार पर वाचस्पति कहते हैं कि प्रमाण–व्यापार के होने से फल होता ही है। अतः उदयन कहते हैं कि व्यापारवान् करण का फल के साथ अव्यभिचारी होना ही साधकतमत्व है। उदयनाचार्य के शब्दों में– ''यद्यप्ययोगव्यवच्छेद एवातिशयः, तथापि तुल्यत्वे सत्यप्यतिशयानतिशयौ तस्यैव चिन्त्येते। न तु वैधर्म्यमात्रमतिशय इत्यभिसंधायान्ययोगव्यवच्छेदोऽपि दर्शितः अयोगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यामिति। अमूं चार्थमनन्तरमेव विभावयिष्यति। ननु यथा कर्त्रादौ सति फलं नावश्यकम्, तथा करणेऽपि सति कदाचिन्न भवेत्, कारकत्वाविशेषात्। दृश्यते च न हि परशौ सति छिदा भवत्येवेत्यत आह–प्रमातृप्रमेये हीति। उपक्षीणवृत्तिनी इति व्यापारवतः कारकत्वमभिप्रैति। तेन परशुरपि व्यापारवानेव सन् करणम्। तथा भूतेन च फलस्यायोगव्यवच्छेद एव, न तु व्यापारवतापि कर्त्रादिना, तद् व्यापारेण करणव्यापारस्य संपादनविलम्बनात्। व्यापारवतस्तु करणस्य नान्यत् संपादनीयमस्तीत्यर्थः। तदिदमुक्तम्– प्रमाणव्यापारे सति तु भवत्येवेति। तदनेन व्यापारवतः फलाव्यभिचारित्वं साधकतमत्वमिति दर्शितम्।''[42]

(2) जिससे युक्त होकर प्रमाता प्रमोत्पाद करता है, वह अतिशय कहलाता है। यहाँ प्रश्न किया जाता है कि किससे युक्त होकर प्रमाता प्रमोत्पाद करता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि प्रमाणवान् होकर प्रमाता प्रमोत्पाद करता है। उद्योतकर कहते हैं कि प्रमाण होने से प्रमाता प्रमोत्पाद

करता है, नहीं होने में नहीं करता है। उद्योतकर के शब्दों में– "यद्वान् वा प्रमिमीते सोऽतिशय। किं वान् प्रमिमीते? प्रमाणवान्। अयं प्रमाणे सति प्रमिमीते, नासतीति।"[43]

करण के इस व्याख्या की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वाचस्पति कहते हैं कि जिससे युक्त होकर प्रमाता प्रमोत्पाद करता है वह अतिशय कहलाता है। वाचस्पति के अनुसार करण प्रतिपाद्य है, तथा 'प्रमिमीतः' पद कर्ता की स्वतंत्रता को दर्शाता है जिससे कि उसे प्रतिपाद्य करण से भिन्न किया जा सके। जिससे युक्त होकर प्रमाता प्रमोत्पाद करता है उसका निर्धारण करना यहाँ कर्तव्य है। वाचस्पति का कहना है कि 'यद्वान्' पद कर्त्ता को अन्य से भिन्न करता है। कर्त्ता कर्तृमान् नहीं, किंतु प्रमाणवान् होता है। वह एक स्वतंत्र आश्रय है, परन्तु क्रिया–फल के लिये परतन्त्र होने के कारण वह परतन्त्र पर आश्रित होता है। करण कर्त्ता के ही अधीन होता है और कर्त्ता के अधीन हुए बिना करण क्रिया–फल की प्राप्ति नहीं करा सकता है। प्रमाता को प्रमेयवान् होना आवश्यक नहीं है, किंतु प्रमाणवान् होना आवश्यक है। प्रमेय को प्रमाता का तंत्रत्व होने से प्रमाता प्रमेयवान् हो सकता है लेकिन उसे प्रमेयवान् होना आवश्यक नहीं है। अनुमान में अतीत का विषय प्रमेय हो तो प्रमेय के अतीतत्व के कारण प्रमेय नहीं रहता है, परन्तु अनुमिति हो जाती है। अतः प्रमाता को प्रमेयवान् होना अनिवार्य नहीं है। लेकिन यह संभव नहीं कि प्रमाता लिंगादिज्ञानवान् न हो अर्थात् प्रमाता को लिंगादि का ज्ञान न हो। वाचस्पति के अनुसार उद्योतकर प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय के इसी स्वरूप का अवधारण करते हैं, और यही अवधारण का फल है। प्रमाण का प्रमाता और प्रमेय से यही भिन्नता है, और इसी भिन्नता के आधार पर प्रमाण का अतिशयत्व अन्वय और व्यतिरेक द्वारा दिखाया गया है। वाचस्पति के अनुसार इस अभिप्राय को उद्योतकर 'प्रमाणे सतीति' द्वारा व्यक्त करते हैं। वाचस्पति के शब्दों में– "कल्पन्तरमाह– यद्वान् वा प्रमिमीते सोऽतिशयः। प्रमिमीत इति स्वतन्त्रं कर्त्तारं दर्शयति प्रतिपाद्यात् करणाद् व्यवच्छेत्तुम्। यद्वानेवेति च सावधारणम्। तत्र यद्वानिति कर्त्रन्तरं व्यवच्छिनत्ति। न हि कर्त्ता कर्तृमान्, किं तु प्रमाणवान्। स्वतन्त्रो ह्याश्रयः परतन्त्रेणाश्रीयते। कर्त्रधीनं हि करणमित्यावेदितम्। प्रमाता प्रमेयवानपि क्वचिद् भवेत् तत्तन्त्रत्वात् प्रमेयस्य न तु प्रमेयवानेव, अनुमानादिषु प्रमेयस्यातीतत्वादिना तद्वत्ताविरहात्। न तु

लिंगादिज्ञानवान् न कदाचिदित्यवधारणफलम्। सोऽयं विशेषः प्रमातृप्रमेयाभ्यां प्रमाणस्य। अस्यैव च विशेषस्यातिशयत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामादर्शयति– प्रमाणे सतीति।''[44]

उदयन वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'यद्वान्' पद को 'परतन्त्रेण' पद से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कर्त्ता नामक स्वतन्त्र आश्रय प्रमा की प्राप्ति के लिये परव्यापार्य पर आश्रित होने से परतन्त्र होने के कारण 'यद्वान्' का अभिप्राय यहाँ 'प्रमाणवान्' है। प्रमाणवान् प्रमाता प्रमोत्पाद करता है। यहाँ कर्त्ता को कर्तृमान् नहीं प्रमाणवान् कहा गया है। पूर्व में कहे गये इसी कथन को वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'कर्त्रधीनं हि करणम्' नामक कथन स्मरण कराता है। उदयन कर्तृव्यापार्य और परम्पराव्यापार्य में भेद करते हुए कहते हैं कि कर्त्ता द्वारा किया गया व्यापार कर्तृव्यापार, और फल प्राप्ति के लिये क्रमिक रूप से किया गया अबाधित व्यापार परम्पराव्यापार कहलाता है। जैसे लकड़ी को दो भागों में विभाजित करने के लिये कुल्हाड़ी को झुककर उठाना, उसे क्रमिक रूप से ऊपर ले जाना, उद्यम से कुल्हाड़ी को लकड़ी पर गिराना, कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग आदि। लकड़ी के विभाजन में एक क्रम में अव्यवहित रूप से एक व्यापार के पश्चात् दूसरा व्यापार होता है। परम्परा व्यापार्य में व्यापारों का प्राचुर्य होता है। यद्यपि कर्तृव्यापार्यत्व का करणत्व के साथ व्यभिचार नहीं है, तथापि परम्पराव्यापार्य के साथ भी व्यभिचार न हो इसीलिये वाचस्पति 'कर्त्रधीनं' पद में 'कर्त्' को प्रकृति (मूल) रूप में अवधारित किया है जिससे कि 'कर्त्रधीनं' पद का अनेक रूपों में प्रयोग किया जा सके। उदयन के अनुसार वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'अस्यैव' पद इस व्याख्या को आगामी व्याख्या से पृथक् करते हैं। उदयन के अनुसार– ''कल्पान्तरम्--यद्वानिति। परतन्त्रेणेति। परव्यापार्येणाश्रीयते अपेक्षत इत्यर्थः। एतदेव पूर्वमुक्तमिति स्मारयति–कर्त्रधीनं चेति। यद्यपि कर्तृव्यापार्यत्वं करणत्वमिति न व्यभिचरत्येव, तथापि परम्पराव्यापार्येणापि कर्मणा व्यभिचारो मा भूदित्याशंक्य प्रकृतेऽवधारणं सम्भावप्राचुर्यात् कृतम्। आगामिवार्त्तिकस्य कल्पान्तरत्वं निवारयति–अस्यैवेति।[45]

(3) उद्योतकर के अनुसार जिसके अभाव होने से प्रमाता और प्रमेय को प्रमा के प्रति अकर्तृत्व होता है वह साधकतम है। दूसरे शब्दों में जिसके अभाव के फलस्वरूप प्रमाता और प्रमेय प्रमोत्पाद नहीं करता है वह साधकतम है – ''सतोर्वाऽकर्तृत्वं यदभावात्। यस्य चाभावात् प्रमातृप्रमेये न प्रमां कुरुतः सोऽतिशयः।''[46]

वाचस्पति के अनुसार उद्योतकर द्वारा प्रयुक्त 'सतोर्वा' पद से स्पष्ट है कि यह लक्षण पहले के लक्षण से भिन्न है। पहले जिस प्रकार से भाव–प्रधान व्याख्या दिखाया गया, उस प्रकार ही यहाँ व्यतिरेक–प्रधान व्याख्या प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर पुनरुक्ति नहीं है। यह नहीं समझना चाहिये कि पूर्व की व्याख्या और इस व्याख्या में कोई भेद ही नहीं है। जहाँ अकर्तृत्व होता है वहाँ अहेतुत्व होता है। वाचस्पति के शब्दों में– "कल्पान्तरमाह–सतोर्वेति। पूर्वेण भावप्रधानोऽतिशयो यादृशस्य दर्शितः, तादृशस्यैवेह व्यतिरेकप्रधानोऽतिशय इति विशेषः। अकर्तृत्वमहेतुत्वमित्यर्थः।"[47]

उदयन के अनुसार वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'पूर्वेण' पद पुनरुक्ति का निषेध करता है। पुनरुक्ति का निषेध साधकतम के इस लक्षण का समर्थन करता है। साधकतम के अभाव में प्रमाता और प्रमेय को प्रमा के प्रति अकर्तृत्व होता है। कर्म की स्वतंत्रता असंभव होने में प्रमा अनुपपन्न रह जाता है। प्रमा का अनुपपन्न होना उसका निषेध है। यह अतिशयत्व की व्यतिरेक प्रधान व्याख्या है। उदयन लिखते हैं कि– "पूर्वकल्पविवरणेन पौनरुक्त्यभिया कल्पान्तरं गृहीतं कथञ्चित् समर्थयति–पूर्वेणेति। कर्मणः स्वातन्त्र्यमसंभवि, ततो विशेषनिषेधोऽनुपपन्न इत्यत आह–अकर्तृत्वमिति।"[48]

(4) उद्योतकर चरमभाविता को भी अतिशय का एक लक्षण मानते हैं। चरम बिन्दु की स्थिति चरमभाविता है। द्रव्य के उत्पादन के क्रम में जो ज्ञानात्मक स्थिति अन्तिम संयोग का है, वही स्थिति प्रमाण का है। द्रव्य का उत्पादन अनेक संयोगों के पश्चात् होता है, और वे सभी संयोग अतिशय या साधकतम नहीं है। वह अन्त्यसंयोग जिसके तत्काल बाद द्रव्य का उत्पादन होता है अतिशय या साधकतम कहलाता है। उसी प्रकार से प्रमा के लिये प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण अपेक्षित है। इनमें से प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय के पश्चात् आता है, तथा प्रमाण के तत्काल पश्चात् ही प्रमा की प्राप्ति होती है। इसीलिये प्रमाता और प्रमेय को नहीं, अपितु प्रमाण को अतिशय कहा गया है। उद्योतकर कहते हैं कि जिस प्रकार से पश्चाद्भावी अन्त्यसंयोग द्रव्य के उत्पादन की शक्ति है, उस प्रकार से ही चरम–भावि प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय दोनों की प्रमा–शक्ति है। अतः प्रमा के लिये प्रमाता और प्रमेय का पश्चाद्भावित्व अतिशय कहलाता है। उद्योतकर के शब्दों में – "संयोगवच्चरमभाविता वा। यथा वा संयोगः पश्चाद्भावोऽतिशयः।"[49]

वाचस्पति उद्योतकर द्वारा प्रयुक्त 'संयोगवच्चरमभाविता' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रमा के लिये प्रमातृव्यापार, प्रमेयव्यापार तथा प्रमाणव्यापार आवश्यक है। कर्तव्यता करने वाला व्यापार करते हुए करण कहलाता है, न कि चक्षुरादि का स्वरूप करण कहलाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि करणादि शब्द का स्वरूप उन शब्दों की प्रवृत्ति का कारण होना चाहिये, परन्तु वही पर्याप्त नहीं है। चक्षुरादि व्यापार करते हुए करण कहलाता है। वह करणादि शब्द सिद्ध वा असिद्ध हो सकता हैं। वह सिद्ध वा असिद्ध करणादि पदार्थ प्रमाता तथा प्रमेय–व्यापार के पश्चात् ही अपने स्वरूप के कारण संपादित होता है तथा चरमभावि कहलाता है। इस चरमभावि की चरमभाविता अतिशय कहलाता है और चरमभाविता के पश्चात् प्रमा का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार पटोत्पादन में अनेक संयोगों में से वह अन्तिम संयोग जिसके तत्काल बाद पटोत्पाद होता है साधकतम कहलाता है, उसी प्रकार अनेक व्यापारों में परम–व्यापार अतिशय कहलाता है। वाचस्पति के शब्दों में– ''कल्पान्तरमाह– संयोगोवच्चरमभाविता वा। सेतिकर्तव्यताकं हि व्याप्रियमाणं करणम्, न तु चक्षुरादिस्वरूपम्। करणादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमात्रं तु स्वरूपं स्यादिति पूर्वमावेदितम्। तच्च सिद्धमसिद्धं वा प्रमातृप्रमेयव्यापारस्य पश्चादेव तथात्वेन संपद्यत इति चरमभावीत्युच्यते। सोऽयमस्य चरमभावितातिशयः। यथा तन्तूनां पटे जनयितव्येऽन्त्याः संयोगभेदा यदनन्तर पट उत्पद्यत एवेति।''[50]

उदयन वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त 'संयोगवत्' पद की व्याख्या करते हुए करण का लक्षण स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार अन्य कारकों से उत्पन्न चरमव्यापार करण कहलाता है। उदयन के अनुसार चरमव्यापार करण का लक्षण है। उनका कथन है कि– ''कल्पान्तरम्– संयोगवदिति। अत्रापि कारकान्तरेभ्यः चरमव्यापार करणमिति लक्षणम्।''[51]

(5) यह कि जिसके साथ प्रतिपत्ति का आनन्तर्य हो अर्थात् जिसके तत्काल बाद प्रतिपत्ति का आविर्भाव हो वह अतिशय कहलाता है। अतिशय और प्रतिपत्ति में आनन्तर्य सम्बन्ध होता है। उद्योतकर के अनुसार– ''प्रतिपत्तेरानन्तर्यं वा। यद् वा प्रमाणानन्तरं प्रतिपत्तेर्जन्म, स चायमतिशय इति।'[52]

वाचस्पति के अनुसार ''प्रतिपत्तेरानन्तर्यं वा' का प्रयोग कर उद्योतकर 'अतिशय' पद का लक्षण प्रस्तुत करते हैं। चूँकि प्रमाण ही चरमभावी होता है और प्रमाण के तत्काल पश्चात् प्रमा की प्राप्ति होती है, अतएव कहा जाता

है कि प्रमाण के अनन्तर प्रतिपत्ति का जन्म होता है। प्रतिपत्ति का आनन्तर्य ही प्रमाण का अतिशयत्व है। प्रमाणत्व और अतिशयत्व में कोई भेद नहीं है। 'प्रमाण' लक्ष्य है और 'अतिशय' लक्षण। वाचस्पति के अनुसार लक्ष्य और लक्षण में अभेद स्थापित करने के लिये ही उद्योतकर 'सच' पद का प्रयोग करते हैं। वाचस्पति के शब्दों में– ''कल्पान्तरमाह– प्रतिपत्तेरानन्तर्यं वा। यत एव प्रमाणं चरमभावि, अत एव तदनन्तरं प्रतिपत्तेः प्रमाया भावात्। प्रतिपत्तेरानन्तर्यमेव प्रमाणस्यातिशयः। स चेति। चोऽवधारणे। इदमपि लक्ष्यलक्षणयोरभेदविवक्षयोक्तम्।''[53]

उदयन चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि जिसके अनन्तर फल की प्राप्ति होती है वह करण है। चूँकि यहाँ अन्य विकल्पों का अभाव है, इसीलिये यही करण का लक्षण है और इस पक्ष में वही अतिशय है। उदयन के अनुसार– ''कल्पान्तरम्–प्रतिपत्तेरिति। अत्राप्यनन्तरं फलं करणमिति लक्षणम्, विकल्पसमुच्चयाभावात्–चोऽवधारणे। अस्मिन् पक्षे स एवातिशय इत्यर्थः।''[54]

(6) या असाधारण–कारणता अतिशय कहा जाता है। सभी कार्यों के कुछ साधारण–कारण होते हैं, और कोई न कोई असाधारण–कारण। असाधारण–कारण करण है। ज्ञान के भी साधारण–कारण और असाधारण–कारण होते हैं। ज्ञान के असाधारण–कारण को साधकतम या अतिशय कहा गया है। प्रमाता, प्रत्यक्षादि से उत्पन्न ज्ञानों का एक साधारण–कारण है। यह एक ऐसा कारण है जो सभी प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञानों में समान रूप से विद्यमान हो सकता है। इसीलिये प्रमाता को साधारण–कारण कहा गया है। सभी ज्ञानों के प्रमेय भी सभी पुरुषों के लिये समान हो सकता है, अतः प्रमेय को साधारणत्व होने से वह भी साधारण–कारण है। विभिन्न ज्ञानों का प्रमाता और प्रमेय तो एक हो सकते हैं, परन्तु प्रमाण नहीं। प्रमाण प्रत्येक स्थिति में भिन्न–भिन्न होते हैं, इसीलिये असाधारण–कारण होने के कारण प्रमाण को प्रधान कहा गया है, और इसी प्रधानता के कारण उसे साधकतम कहते हैं। उद्योतकर के शब्दों में– ''असाधारणकारणता वा। प्रमाता तावत् साधारणं कारणं प्रत्यक्षादिज्ञानानाम्। सर्वप्रतिपत्तीनां प्रमेयमप्यशेषपुरुषसाधारणत्वात् तथाभूतम्। प्रमाणं त्वसाधारणकारणत्वात् प्रधानम्। प्राधान्याच्च साधकतमत्वेनाभिधीयत इति।''[55]

वाचस्पति असाधारण–कारणता को अतिशय का लक्षण मानते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से चार विभिन्न प्रकारक प्रमितियाँ होती हैं। प्रमाण ही इन चारों प्रमितियों के बीच भेद स्थापित करता है। वाचस्पति कहते

हैं कि साधारण–कारण विभिन्न प्रमितियों के भेद का हेतु नहीं हो सकता है। प्रमाता के आधार पर इन प्रमितियों में भेद स्थापित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि एक ही प्रमाता सभी में हो सकता है। प्रमाता की साधारणता के फलस्वरूप वे विभिन्न प्रमितियों का साधारण–कारण हैं, इसलिये प्रमाता को इन प्रमितियों का भेद–हेतु नहीं माना जा सकता है। प्रमेय के आधार पर भी इन प्रमितियों में भेद करना संभव नहीं है। एक प्रमेय सभी प्रमितियों का समान रूप से विषय–वस्तु हो सकता है, फलतः प्रमेय भी इन प्रमितियों का भेद–हेतु नहीं कहा जा सकता है। प्रमाता के भाँति प्रमेय भी साधारण–कारण ही है। वाचस्पति के अनुसार प्रमाण ही एक ऐसा कारण है जो अपने–अपने उचित स्थानों पर चारों प्रमितियों के असाधारण–कारण है। ये असाधारण–कारण विभिन्न चारों प्रमितियों में प्रमाण हैं अर्थात् भिन्न बुद्धि द्वारा किये गये निरूपण के हेतु हैं। यह असाधारण–कारण विभिन्न प्रमितियों में भेद स्थापित करता है। इस असाधारण–कारण को प्रमाता रूप सभी पुरुष अतिशय कहते हैं। वाचस्पति के अनुसार– "कल्पान्तरमाह– असाधारणकारणता वा। चतस्रः खल्विमाः प्रत्यक्षादि प्रमितयो भिन्नबुद्धिव्यपदेशभाजोऽनुभूयन्ते। न च प्रमाता तद्भेदहेतुः, तस्य साधारण्यात्। न च प्रमेयमेकस्यापि प्रमेयस्य संप्लवे सर्वप्रतिपत्तिसाधारणायात्। प्रमाणानि तु यथायथं चतसृष्वपि प्रमितिष्व–साधारानीति भिन्नबुद्धिव्यपदेशनिबन्धनानि। तदिदमसाधारण्यमतिशयः अशेषः पुरुषः प्रमातात्र विवक्षितः।"[56]

उदयन के अनुसार असाधारण–कारणता के पद में अतिशय की व्याख्या एक अन्य कल्प है। इसी कल्प की व्याख्या करने के लिये वाचस्पति 'असाधारण' पद का प्रयोग करते हैं। वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त इस 'असाधारण' पद को स्पष्ट करते हुए उदयन कहते हैं कि सभी करणों में असाधारणत्व स्थापित करने का कोई उपयोग नहीं है, फलतः वाचस्पति मूल 'प्रमाण' पद में ही असाधारणत्व स्थापित करते हैं जिससे सभी चारों प्रमाणों में असाधारणता घट जाती है। इसी को स्पष्ट करने के लिये वाचस्पति 'चतस्रः' पद का प्रयोग करते हैं। उदयन कहते हैं कि प्रमाण विभिन्न प्रमाओं के बीच विवक्षित जाति–भेद का निरूपक होता है, और जाति–भेद का निरूपक प्रमाण के लक्षण होते हैं। प्रमा के प्रति साधारण तथा असाधारण–कारण के निरूपण में पुरुष–विषय की साधारणता के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए उदयन कहते हैं कि जब प्रमेय का साधारणत्व स्थापित किया जाता है तो प्रमेय सभी

पुरुषों के लिये समान होता है, और असाधारण--कारण का अतिशयत्व भी सभी पुरुषों के लिये समान होता है। इसी को ध्यान में रखकर वाचस्पति 'अशेष' पद का प्रयोग करते हैं। उदयन के अनुसार– "कल्पान्तरम्-- असाधारणेति। सर्वकरणेष्वसाधारणत्वोपादनानुपयोगात् प्रकृते प्रमाणे घटयति– चतस्र इति। अत्रापि प्रमाणविवक्षितजातिभेदव्यपदेशकं प्रमाणमिति लक्षणम्। प्रमां प्रति कारणानां साधारणत्वासाधारणत्वे निरुप्यमाणे पुरुषविषयस्य साधारण्यस्य किमायातमित्यत आह--अशेष इति।"[57]

(7) संयोग प्रमा का कारण है, और उन संयोगों में से संयोगविशेषक अतिशय है। सभी प्रमाओं में संयोग समान रूप से पाया जाता है, अतः एक प्रमा को दूसरे प्रमा से भिन्न करने के लिये उस संयोग–विशेष को इंगित करना आवश्यक है जो प्रमा–विशेष को जन्म देता है। उस संयोग–विशेष के विशेषक को अतिशय कहा जाता है। जो संयोग प्रमा का कारण है, उस संयोग के वर्तमानत्व को प्रमाण ग्रहण करने के क्रम में अतिशय शब्द प्रयोग किया जाता है। उद्योतकर के शब्दों में– "प्रमाकारणसंयोगविशेषकत्वं वा। यो वा प्रमाकारणं संयोगः, तस्य प्रमाणमनुग्रहे वर्तमानमतिशयशब्दवाच्यम्।"[58]

यहाँ प्रश्न उठता है कि संयोग किनके बीच होता है तथा वह किस प्रकार का कारण है? वाचस्पति इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि संयोग आत्मा और मन के बीच होता है, तथा वह एक असमवायि कारण है। वाचस्पति के अनुसार संयोग विभिन्न प्रमाणों से प्राप्त सभी प्रमाओं में असमवायी कारण के रूप में साधारण रूप से पाया जाता है, इसीलिये वह संयोग जो एक विशेष प्रकार के प्रमाण (यथा प्रत्यक्ष) से उत्पन्न प्रमा जाति का कारण है उसे दूसरे संयोग से जो दूसरे विशेष प्रकारक प्रमाण (यथा--अनुमान) से उत्पन्न प्रमा जाति का कारण है, भिन्न करना अनिवार्य है। उन संयोगों को प्रमाता या प्रमेय के आधार पर भिन्न नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रमाता और प्रमेय संयोग की भाँति सभी विभिन्न प्रमाणों से उत्पन्न प्रमा जातियों में समान रूप से विद्यमान होता है। वाचस्पति के अनुसार वह असाधारण–कारण प्रमाण है जो यथा योग्य आत्मा और मन के संयोग का विशेषक है। इसी प्रकार से मन सुखादि प्रमेयों का साधारण व्यवच्छेद के रूप में ही देखा जाना चाहिये। वाचस्पति के अनुसार यूँ तो प्रमाण अतिशयिन् होता है परन्तु उद्योतकर अतिशयिन् और अतिशय में भेद नहीं करते, और इसी कारण से प्रमाण को अतिशय कहते हैं। वाचस्पति के अनुसार

"कल्पान्तरमाह– प्रमाकारणेति। प्रमाया असमवायिकारणं खल्वात्ममनः संयोगः। स च सर्वप्रमासाधारणः। नासौ प्रमात्रा प्रमेयेण वा शक्यो विशेष्टुम्, तयोरपि तद्वदेव साधारण्यात्। असाधारणं तु प्रमाणं यथायथमात्ममनः संयोगमवच्छिनत्ति। एवं सुखादिप्रमेयाणामपि मन एव साधारणं व्यवच्छेदकं द्रष्टव्यम्। सोऽयमस्यातिशयः अतिशयातिशयिनोरभेदविवक्षया अतिशयशब्दवाच्यम् इत्युक्तम्।"[59]

उदयन इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि चार भिन्न–भिन्न प्रकारक प्रमा–जातियों में भेद करने के साधन के रूप में प्रमिति के संयोग रूप असमवायि–कारण का विशेषक प्रमाण कहलाता है। उदयन के शब्दों में– "कल्पान्तरम्–प्रमाकारणेति। अत्रापि विवक्षित प्रमाजातिभेदौ पयिकत्वेन प्रमित्यसमवायिकारणविशेषकं प्रमाणमिति लक्षणम्।"[60]

III

व्याकरण एवं न्याय में करण विषयक मत प्रस्तुत करने के उपरान्त उपसंहार रूपेण यह कहा जा सकता है कि बौद्धार्थवादी वैयाकरण विवक्षा के आधार पर कारक एवं करण को स्पष्ट करने के लिये भाषा के प्रयोग मात्र को ध्यान में रखते हैं। चूँकि लोक–भाषा सदैव तर्क का अनुकरण नहीं करती है, इसीलिये वैयाकरण के मतों में तार्किक सामंजस्यता का अभाव पाया जाना स्वभाविक है। परन्तु न्याय में कारक एवं करण पदार्थों का लक्षण एवं परीक्षा तत्त्व के स्तर पर तार्किक रूप से किया गया है। वे अपने चिन्तन को वाह्यार्थ से आरम्भ कर तार्किक विश्लेषण द्वारा तात्त्विक स्तर पर ले जाते हैं। नैयायिक कारकत्व एवं करणत्व को वस्तु–सिद्ध न मानकर बुद्धि–सिद्ध मानते हैं, और शब्दों के स्वरूप–शक्ति के आधार पर कारक–शब्दों के कारकत्व में त्रिकालत्व सिद्ध करते हैं। चूँकि वैयाकरण भाषा के ही स्तर पर विचार करते हैं, अतः शब्द के स्वरूप–शक्ति का आदर नहीं करते। परिणामतः 'असिश्छनत्ति' में 'असिः' का प्रयोग कर्त्ता के रूप में, और 'स्थाल्या पच्यते' में 'स्थाली' का प्रयोग करण के रूप में करते हैं। विवक्षा से कारक–शब्द का कारकत्व मान लेने से किसी भी शब्द का प्रयोग किसी भी कारक के रूप में संभव है। जैसा कि भासर्वज्ञ कहते हैं – "विवक्षातः कारकाणि भवन्तीत्यन्ये। यथा मृत्पिण्डो घटं करोति, मृत्पिण्डमासाद्य घटो भवति, मृत्पिण्डेन घटं कुलालः करोति, मृत्पिण्डाद् घटो भवति, मृत्पिण्डस्य घटो विकारः मृत्पिण्डे घट उत्पद्यते इति।"[61] विवक्षा से शब्द का प्रयोग मान लेने से अर्थ–प्रतीति

संभव नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में शब्द और अर्थ के साथ सम्बन्ध का अभाव हो जाने के फलस्वरूप असद् अर्थ के लिये भी शब्द के प्रयोग की विवक्षा संभव है। निश्चय ही वह शब्द जो असद् अर्थ का वाचक है अर्थ–प्रतीति नहीं कराता है। यही कारण है कि भासर्वज्ञ विवक्षा से शब्द–प्रयोग करने के पक्ष में नहीं है – ''शब्दाद्विवक्षाप्रतीतौ ततोऽर्थप्रतीतिरिति चेत्, न, विवक्षाया अप्यर्थेन सम्बन्धाभावादसत्यप्यर्थे विवक्षोत्पत्तिदर्शनात्।''[62]

वैयाकरण के अनुसार कारक–शब्द का वस्तु अनिर्देश्य होने से करणतया वस्तु नियत नहीं होता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि 'यही करण है' या 'यह करण ही होता है'। वैयाकरण बौद्धार्थवादी हैं। उनके अनुसार शब्द का अर्थ वाह्य जगत् में नहीं अपितु बुद्धिगत होता है, फलतः वाह्यार्थवादी नैयायिक के अनुसार वैयाकरण कार्य जनन के प्रति शब्द एवं वाह्यार्थ का सम्बन्ध तथा स्वरूप–शक्ति की सहभागिता का अनादर करते हैं।

किसी भी क्रिया में साधकतम या अतिशय या सर्वोपकारक एक से अधिक संभव नहीं है, अन्यथा उसे साधकतम या अतिशय या सर्वोपकारक नहीं कहा जा सकता है। वैयाकरण इस समस्या से अवगत थे, इसीलिये वे 'अश्वेन पथा दीपिकया याति' में अनेक तृतीयान्त पदों के प्रयोग के औचित्य की व्यख्या करते हैं। तर्कतः इस वाक्य में तीन तृतीयन्त पदों का प्रयोग तीन विभिन्न कार्यों के लिये किया गया है, एक कार्य के लिये नहीं। अतः वैयाकरण का कथन कि एक वाक्य में अनेक करण हो सकते हैं अनुचित है। पुनः व्यवधान से क्रिया की सिद्धि और अव्यवधान से क्रिया की सिद्धि के आधार पर ही अन्य कारकों के व्यापार को करण–व्यापार से पृथक् किया जाता है। किसी भी क्रिया में एक ही व्यापार के अव्यवधान से क्रिया की सिद्धि होती है, अतः स्पष्ट है कि उक्त वाक्य में तीन तृतीयान्त पदों का प्रयोग विभिन्न कार्यों के लिये किया गया है।

वैयाकरण के विरोध में नैयायिक पूछते हैं कि क्या विवक्षा से कारक–शब्द का कारकत्व अविद्यमान भी हो जाता है? या कारकत्व पहले से स्थित होता है और स्थित कारकत्व में पश्चात् विवक्षा से उस कारकत्व को व्यक्त करने वाले शब्द का प्रयोग किया जाता है? प्रथम पक्ष में घटोत्पत्ति में कुलाल का करणत्व और मृत्पिण्ड का संप्रदानत्व कहने में कोई विरोध नहीं होना चाहिये क्योंकि यहाँ विवक्षा के विरोध का अभाव होने से कारक के अपप्रयोग का दोष नहीं है। दूसरे पक्ष में वैयाकरण को कारकों के स्वरूप

को स्पष्ट करना चाहिये जिंससे कि उनका स्वरूप–भेद जो कि कारकों की भेद–व्यवस्था का हेतु है स्पष्ट हो सके। स्वरूप–भेद के आधार पर कारकों में भेद व्यवस्थित हो जाने से जिस प्रकार तुलादि में बराबर तौलते हैं उसी भाँति उन कारकों के लक्षण का समावेश करते हुए शब्द का समावेश करना चाहिये। परन्तु विवक्षा के आधार पर कारकत्व मानने से कारकों के लक्षण के अनुसार शब्द का समावेश संभव नहीं होने से विवक्षा के आधार पर कारक–शब्द का कारकत्व मान लेना उचित नहीं है। भासर्वज्ञ इस कथन को निम्नलिखित शब्दों व्यक्त करते हैं – "अत एव प्रष्टव्याः किं विवक्षातः कारकमविद्यमानमपि भवत्युत कारकत्वे स्थिते पश्चाद्विवक्षातस्तदभिधयि–शब्दप्रयोगो भवतीति? प्रथमे पक्षे घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डस्य सम्प्रदानत्वं कुलालस्य करणत्वमपि स्यात्, न क्वचित्कारकापप्रयोगदोषो भवेत्, सर्वत्र विवक्षायाः प्रतिघाताभावात्। अथोत्तरः पक्षः, तदा तेषां कारकाणां भेदव्यवस्थाहेतुः स्वरूपभेदो वाच्यो येन तल्लक्षणसमावेशे तुलादिष्विव शब्दसमावेशो युक्तः स्यादिति।"[63] अन्ततः यह कहा जा सकता है कि व्याकरणदर्शन में प्रतिपादित मत का खंडन कर नैयायिक जिस प्रकार करण पदार्थ का विश्लेषण एवं तर्क प्रस्तुत करते हैं वह भारतीय चिन्तन में अद्वितीय है।

शैक्षणिक केन्द्र
भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्,
3/9, विपुल खंड, गोमती नगर,
लखनऊ–226010

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, तृतीय काण्ड, द्वितीय भाग, हेलाराज की प्रकाशव्याख्या, रघुनाथ शर्मा की अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1979, पृ. 254*
2. *वही, पृ. 254*
3. *वही, पृ. 254*
4. *वही, पृ. 255*
5. *वही, पृ. 255*
6. *वही, पृ. 255–56*
7. *वही, पृ. 256*

8. वही, पृ. 256
9. वही, पृ. 256
10. वही, पृ. 256
11. वही, पृ. 257
12. वही, पृ. 257
13 वही, पृ. 258
14. वही, पृ. 258
15. वही, पृ. 258
16. वही, पृ. 258
17. वही, पृ. 258
18. वही, पृ. 263
19. वही, पृ. 263
20. सवात्स्यायनभाष्यं गौतमीयं न्यायदर्शनम्, अनन्तलाल ठाकुर (संप.) भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई --दिल्ली, 1997, पृ. 1
21. न्यायभाष्यवात्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तकाल ठाकुर (संप.) भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1997, पृ. 4
22. वही, पृ. 5
23. वही, पृ. 5
24. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.) भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई –दिल्ली, 1996, पृ. 18
25. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.) भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1997, पृ. 5
26. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 18–19
27. वही, पृ. 19
28. वही, पृ. 19
29. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.) भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 57–58
30. न्यायकोशः, म. म. भीमाचार्य, भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान, पूणे, चतुर्थ संस्करण, 1996, पृ. 830
31. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 58
32. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1997, पृ. 6
33. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 19–20
34. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1997, पृ. 6

35 न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 20
36 न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 59
37. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1997, पृ. 6
38. वही, पृ. 6
39. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 20–21
40. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 59
41. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 20–21
42. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 59–60
43. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1997, पृ. 6
44. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 21
45. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 60
46. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 21
47. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 21
48. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 60
49. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 6
50. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 21
51. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 60
52. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 6
53. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 21–22

54. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 60
55. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 6
56. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 22
57. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 60
58. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 6
59. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 22
60. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः, उदयनाचार्य, अनन्तलाल ठाकुर (संप.), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई–दिल्ली, 1996, पृ. 60
61. न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संपा.), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1968, पृ. 46
62. वही, पृ. 385
63. वही, पृ. 46

न्यायदर्शन में सम्बन्ध की अवधारणा

अम्बिकादत्त शर्मा

यद् बुद्ध्या यदुत्पन्नं तन्न्यायमतम् – मानवीय बुद्धि जब कभी भी जीवन और जगत् को समझने को प्रयास करती है तो उसे वह सम्बन्धों के ताने–बाने में ही समझती है। इसलिए सम्बन्ध की अवधारणा पर विचार करना जितना व्यावहारिक है, उतना ही दर्शनिक भी है। मेरा इनसे सम्बन्ध है, और मेरा इनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है-- इस प्रकार के सम्बन्ध निर्देशक वाक्यों का प्रयोग सामान्य जन और दार्शनिक दोनों ही करते देखे जाते हैं। यह सम्बन्ध अपने आप में क्या है, सामान्य व्यक्ति के लिए कोई समस्या नहीं, क्योंकि सम्बन्धों के ताने–बाने में बंधा यह जीवन और जगत् उसके लिए प्रदत्त होता है। परन्तु इस ताने–बाने में यह जगत् किस तरह प्रस्तुत हुआ है, उसे जानने के लिए हमें स्वयं सम्बन्ध के बारे में प्रश्न उठाना पड़ता है कि सम्बन्ध अपने आप में क्या है? हम जैसे ही सम्बन्ध के बारे में प्रश्न उठातें हैं, यह प्रश्न व्यावहारिकता का अतिक्रमण कर विशुद्ध दार्शनिक विमर्श के प्रश्न में रूपान्तरित हो जाता है और तब मानवीय बुद्धि सम्बन्धों के मौलिक प्रारूपों के प्रति अधिकाधिक आत्मचेतन होने में प्रवृत्त हो जाती है।

I

सम्बन्ध का प्रश्न यद्यपि पक्ष–विपक्ष रूप से अधिकांश भारतीय दर्शनों के लिए एक समान सरोकार का विषय रहा है। तथापि इस प्रश्न को लेकर न्याय दर्शन में जितना रचनात्मक और विवेचित रूप से विचार हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। बौद्ध दर्शन में तो सम्बन्ध की सत्ता का ही अनेक तर्कों के द्वारा खण्डन किया गया है। बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति का इस विषय पर 'सम्बन्ध परीक्षा' नामक प्रकरण ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है। मीमांसक सम्बन्धों की सत्ता को स्वीकार तो करते हैं लेकिन उन्हें सम्बन्ध के समवायादि प्रकारों को अस्वीकार ही करना पड़ता है, क्यो‌ंकि उनके भेदाभेद या भेदसमानाधिकरण अभेदवाद के साथ समवायादि सम्बन्धों की संगति नहीं बैठती। सांख्य दर्शन

के लिए सम्बन्ध की अवधारणा विशेष महत्त्व का नहीं, क्योंकि उनके परिणामवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तुयें स्वस्वभावानुसार ही, किसी अन्य की अपेक्षा किये बिना, परिणमित होती रहती हैं। वेदान्त की भूमिका सम्बन्ध के प्रश्न पर ढुलमुल जैसी है। वेदान्ती कभी पारमार्थिक तो कभी व्यावहारिक भूमिका में सम्बन्ध का खण्डन--मण्डन करते रहते हैं। यद्यपि नव्य वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती सम्बन्ध के सम्प्रत्यय का बहुशः उपयोग करते दिखाई पड़ते हैं। पश्चिमी दर्शन में आंग्ल परम्परा के दर्शनिकों ने सम्बन्ध के सम्प्रत्यय पर और उसमें भी आंतरिक सम्बन्ध के सम्प्रत्यय पर बहुत गम्भीरता से विचार किया है। इसका मुख्य कारण यह रहा कि पश्चिमी दर्शन में आरम्भ से ही सम्बन्ध की आन्तरिकता को प्रत्ययवाद का पोषक एक आधारभूत सिद्धांत माना गया है। ए.सी. इविंग ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'आइडियलिज्म ए क्रिटिकल सर्वे' में इसी आधार पर काण्ट और हेगेल इत्यादि दर्शनिकों की प्रत्ययवादी भूमिकां का खण्डन किया है। ब्रैडले सम्बन्ध की आन्तरिकता का समर्थन करने वाले अपने युग के सर्वाधिक सशक्त दार्शनिक रहे हैं। एपियरेंस एण्ड रियलिटी, एथिकल स्टडीज और स्टडीज इन लॉजिक में उन्होंने सम्बन्ध मात्र की आन्तरिकता का ही समर्थन किया है। परन्तु आन्तरिक सम्बन्धों के समान बाह्य सम्बन्धों के विभिन्न रूपों पर न्याय दर्शन में जितनी गहराई से विचार किया गया है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की एक अर्वाचीन शाखा 'रिलेशनल लॉजिक' में वस्तुओं और प्रतिज्ञप्तियों के तार्किक प्रस्तुतिकरण और तत्सम्बन्धी अनेक ज्ञानमीमांसीय समस्याओं पर विचार हुआ है लेकिन सम्बन्धों के मौलिक स्वरूप की दृष्टि से रिलेशनल लॉजिक के विचार भी न्याय की तुलना में न्यून ही प्रतीत होते हैं।

सम्बन्ध की अवधारणा को लेकर न्याय दर्शन की विशिष्टता इस बात में निहित है कि इस दर्शन में बुद्धि ग्राह्य बाह्य और वस्तुगत सम्बन्धों पर मूलगामी रूप से विचार करते हुए उसके सर्वतंत्र स्वतंत्र मौलिक प्रारूपों की खोज की गई है। ये सभी सम्बन्ध के ऐसे प्रारूप हैं, जो हमारे विचार और भाषा में आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट रहते हैं। सम्बन्धों के मौलिक प्रारूपों की न्याय सम्मत गवेषणा का महत्त्व इस प्रकार के दर्शनिक विवादों से घट नहीं जाता कि यावत् सम्बन्ध विकल्पात्मक मानसिक संरचनायें हैं

अथवा सम्बन्ध की सत्ता भी उतनी ही वस्तुनिष्ठ है जितना की दो सम्बन्धी। सम्बन्ध चाहे विकल्पात्मक हों अथवा वस्तुनिष्ठ, इस तत्त्वमीमांसीय निर्धारण से सम्बन्ध के मौलिक प्रारूपों और उनके ताने–बाने पर कोई असर नहीं पड़ता है।

II

यह तो न्याय और अन्य दर्शन भी मानते हैं कि सम्बन्ध और सम्बद्ध वस्तुयें या पद एक स्तरीय नहीं होते और न हो सकते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक सामान्य और व्यावहारिक उदाहरण को उपस्थापित करना समीचीन होगा। पुस्तक अलमारी में रखी होने पर पुस्तक और अलमारी में एक सम्बन्ध होता हैं। इसे एक साधारण आदमी भी समझता है और उसे 'अलमारी' पद से लगे 'में' प्रत्यय से सामान्यतया सूचित माना जाता है। सूक्ष्मता से उक्त 'में' प्रत्यय पुस्तक और अलमारी के सम्बन्ध से अधिक अलमारी में पुस्तक के आधारित होने को बताता है। अब यदि इस उदाहरण में आधारितता है तो यहाँ आधेयता को भी आवश्यक रूप से चिह्नित करना होगा। इस प्रकार अलमारी की आधारितता के साथ पुस्तक की आधेयता को निरूप्य–निरूपक भाव रूप तार्किक सम्बन्ध से सम्बन्धित मानना होगा।[1] यदि इस निरूप्य–निरूपक भाव को इस तरह न समझ कर उलटे कर दिया जाये तो उपर्युक्त उदाहरित वाक्य का अर्थ होगा– 'पुस्तक पर अलमारी रखी है' यह हमारे सामान्य अनुभव के सर्वथा विरूद्ध होगा। परन्तु इस प्रकार के तार्किक विश्लेषण से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि पुस्तक और अलमारी में कैसा सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध स्पष्टतया संयोग रूप दिखाई देता है। क्योंकि अलमारी में पुस्तक का रखा होना कोई सदा सर्वदा जैसी घटना नहीं है। अतः इसे संयोग रूप ही मानना चाहिए। अब यहाँ तत्काल ही प्रश्न उपस्थित होता है कि इस संयोग सम्बन्ध का उपर्युक्त पुस्तकीय आधेयता से क्या वास्ता है? नैयायिक इसका उत्तर देते हुए कहेंगे कि संयोग सम्बन्ध पुस्तकीय आधेयता का अवच्छेदक है। अवच्छेदक पद नव्यन्याय की एक पारिभाषिक पदावली है, लेकिन यहाँ हम इसे 'निर्धारित' अर्थ में भी समझ सकते हैं। अतः सरल शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि पुस्तक संयोग सम्बन्ध से अलमारी में वृत्तिमान् है। परन्तु इस स्पष्टीकरण के बावजूद भी एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि पुस्तकीय आधेयता के समान अलमारी की आधारता का अवच्छेदक कोई संयोग हो सकता है या नहीं। यदि नहीं तो

क्यों नहीं? स्पष्ट ही यह प्रश्न थोड़ा जटिल है। वस्तुतः वस्तुओं के आधाराधेय भाव में वस्तु सम्बन्ध की आधेयता का ही अवच्छेदक माना जाता है, आधारता का नहीं। इसके अनेक कारण हैं। एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि कोई भी वस्तु विभिन्न वस्तुओं का विभिन्न सम्बन्धों से आधार हो सकती है। यथा, प्रस्तुत उदाहारण में अलमारी संयोग सम्बन्ध से पुस्तक का आधार होते हुए भी एक अन्य 'समवाय' रूप सम्बन्ध से अपने घटकों अर्थात् शेल्फ, रैक आदि का भी आधार है, क्योंकि इनके बिना अलमारी बन नहीं सकती। इसी तरह अलमारी अपने रूप, रंग, स्पर्श आदि गुणों का भी समवाय सम्बन्ध से आधार होती है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अलमारी की आधारता उसके विभिन्न प्रकार के आधेयों के लिए एक समान है। भले ही ये आधेय और इनकी आधेयता के अवच्छेदक सम्बन्ध भिन्न–भिन्न हों। इस कारण आधारता को आधेयतावच्छेदक सम्बन्धों से अवच्छिन्न (निर्धारित) मानना तर्क संगत नहीं। परन्तु यहाँ पुनः प्रश्न हो सकता है कि आधेयता के समान आधारताओं को भी भिन्न–भिन्न क्यों न माना जाय। इसका उत्तर यही होगा कि आधेय कैसा भी और किसी भी सम्बन्ध से आधेय रूप क्यों न हो, उसका आधार एक जैसा ही होगा। वस्तुतः आधेयों की भिन्न प्रकारता हमारे साधारण शब्द प्रयोगों से भी प्रमाणित होती है। उदाहरण के लिए अलमारी में रैक है, अलमारी का दरवाजा है और अलमारी के ऊपर तस्वीर रखी है। इन प्रयोगों में 'में', 'को' और 'ऊपर' जैसे विभिन्नार्थक प्रत्यय आधेयों की ही भिन्न–प्रकारता को बताते हैं, आधारों के नहीं। लेकिन यदि आधारता को भी सम्बन्धावच्छिन्न मानना ही हो तो आधेयता को ऐसा मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी।

III

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् सम्बन्ध मात्र के स्वरूप के विषय में जानने योग्य पहली बात यह है कि सम्बन्ध प्रायः ही द्विष्ठ होता है। इस द्विष्ठ में एक उसका प्रतियोगी और दूसरा उसका अनुयोगी होता है। पूर्वोक्त उदाहरण में पुस्तक संयोग सम्बन्ध का प्रतियोगी और अलमारी उसका अनुयोगी है। सामान्य तौर पर सम्बन्ध का आधार समझा जाने वाला पदार्थ उसका अनुयोगी और आधेय समझा जाने वाला पदार्थ प्रतियोगी होता है। सम्बन्ध अनेकानुयोगिक और अनेक प्रतियोगिक भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न क्रमशः कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी

के पुत्र थे। इसमें राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न अलग--अलग पुत्रत्व रूप सम्बन्ध के अनुयोगी हैं, और कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी अलग--अलग इस सम्बन्ध के प्रतियोगी हैं। यहाँ अवधेय है कि एक ही सम्बन्ध जैसे अनेक अनुयोगी--प्रतियोगियों को एक दूसरे के साथ जोड़ सकता है वैसे ही विभिन्न सम्बन्ध भी एक ही अनुयोगी को अनेक प्रतियोगियों के साथ अलग--अलग या समुच्चित रूप से भी जोड़ सकता है। इस तरह देखा जाय तो आधुनिक प्रतिकात्मक तर्कशास्त्र में जो भी सम्बन्ध मान्य किये गये हैं, उन सबका विचार न्याय दर्शन में पहले ही किया गया प्रतीत होता हैं। इतना ही नहीं बल्कि न्याय दर्शन में कुछ ऐसे भी सम्बन्धों पर विचार किया गया है जिन पर प्रतिकात्मक तर्कशास्त्र में विचार नहीं किया गया प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए विशेषणता सम्बन्धों का वृत्ति–नियामक रूप और वृत्यनियामक रूप होना वस्तुतः तर्कशास्त्र की परिधि से बाहर के सम्बन्ध हैं। जिस सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धियों का आधाराधेय भाव निर्धारित होता है, वह सम्बन्ध वृत्ति या वृत्तिता का नियात्मक[2] और जो सम्बन्धियों को केवल एक दूसरे से जोड़ता है वह सम्बन्ध वृत्यनियामक[3] हुआ करता है। उपर्युक्त अलमारी स्थित पुस्तक के उदाहरण में पुस्तक अलमारी का आधेय होने के कारण उसका अलमारी के साथ जो संयोग सम्बन्ध है, वह वृत्ति नियामक है जबकि अलमारी और उसके दरवाजे का सम्बन्ध वृत्यनियामक है, क्योंकि दरवाजा अलमारी से केवल जुड़ा हुआ है, उस पर आधारित नहीं। अधिकांश में केवल संयोग सम्बन्ध ही ऐसा सम्बन्ध होता है जो कभी–कभी वस्तुओं को एक दूसरे से जोड़ने का ही काम करता है, आधाराधेय भाव का नहीं। ऐसे संयोग विभु माने जाने वाले पदार्थों के ही बीच होता है। उदाहरण के बतौर आकाश और काल ये दोनों सर्वव्यापी पदार्थ हैं। ऐसा हमारे सामान्य अनुभव में भी आता है। यथापि इन दोनों पदार्थों के स्वभाव और कार्य एक दूसरे से बिल– कुल भिन्न हैं, अतः इन्हें वृत्यनियामक सम्बन्ध से ही सम्बद्ध मानना पड़ता है। ये एक दूसरे पर न आधारित हैं और न हो सकते हैं। अतः इनके बीच वृत्तिनियामक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का सर्वपरिचित वृत्यनियामक सम्बन्ध होता है जो प्रत्येक वस्तु का अपने ही साथ हुआ करता है। इसे ही तादात्म्य कहते हैं। विचार किया जाय तो यद्यपि वस्तु का तादात्म्य उसके आत्मीय स्वरूप से अन्य कुछ भी नहीं, फिर भी उसे एक सम्बन्ध मानना ही पड़ता है। वस्तुतः अन्योन्याभाव या भेद

के कार्य का अपवारण तादात्म्य को सम्बन्ध माने बिना सम्भव ही नहीं है। उदाहरण के लिए 'घट पट नहीं हैं' इस तरह का घट में पट न होने का प्रकथन घट में पट के सामान्य अभाव का बोधक नहीं हो सकता। घट पर एक पट को रख देने पर भी 'घट' में पट नहीं है, यह कथन असत्य नहीं होगा। अतः जो अभाव यहाँ 'नहीं' शब्द से बोध्य है, वह पट रूप वस्तु का न होकर पट के तादात्म्य का है। यह तादात्म्क वस्तु से भिन्न न होकर भी एक सम्बन्ध के रूप में पट से अलग सा कर दिया गया है। अधिक तर्कसंगत तरीके से इस बात को कहना ही तो यह कहना उचित होगा कि 'घट में पट का तादात्म्य सम्बन्ध से अभाव याने पट का भेद है। पुनः तादात्म्य सम्बन्ध से अभाव का अर्थ यह होगा कि उक्त अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य है। अब यहाँ इस उलझन को सुलझाने के लिए वस्तुतः अभाव की प्रतियोगिता और और उसके अवच्छेदक सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। अवधेय है कि अभाव की प्रतियोगिता सम्बन्ध मात्र की सम्बन्धीगत प्रतियोगिता से बिलकुल भिन्न प्रकार की हुआ करती है। संयोगादि सम्बन्ध के प्रतियोगी उसके प्रतियोगी इसलिए कहे जाते हैं कि वे सम्बन्ध के द्वारा अन्य अनुयोगी रूप सम्बन्धी से सम्बद्ध होकर एक विशिष्ट बुद्धि का निर्माण करते हैं। इसके ठीक विपरीत किसी भी अभाव का प्रतियोगी इस कारण उसका प्रतियोगी कहा जाता है कि वह अपने अभाव का अपने स्थान या आधार से अपसारण करता है। उदाहरण के लिए घट के सामान्य अभाव का स्वयं घट के द्वारा उसके आधार से अपसारण होता है। जहाँ घट विद्यमान है वहाँ उसका अभाव नहीं रह सकता। अतः यह प्रतियोगिता विरोधी रूप है जिसका अवच्छेदक या निर्धारक वही सम्बन्ध होता है, जो घट और उसके बीच अवस्थित होते हुए घट के अभाव का अपसारण करे। इस प्रकार अभावीय प्रतियोगिता वस्तुतः सम्बन्धों की प्रतियोगिता से नितान्त भिन्न और उसकी एक प्रकार से विरोधी होने पर भी उसके लिए न्याय में प्रतियोगिता शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता, यह एक दुरूह प्रश्न है। सम्भवतः अभाव और उसकी प्रतियोगिताभूत वस्तु के बीच प्रतियोगी –अनुयोगी भाव सम्बन्ध मानकर इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। परन्तु अवधेय है कि प्रतियोगी–अनुयोगी–भाव यदि स्वयं सम्बन्ध हो जाय तो इस सम्बन्ध की ही प्रतियोगिता प्रतियोगिभूत घट में होगी और तब इस प्रतियोगी का अवच्छेदक सम्बन्ध ही प्रतियोगी–

अनुयोगी–भाव हो जायेगा। इस विचित्र स्थिति से उबरने के लिए वस्तु और उसके अभाव के बीच विशिष्ट बुद्धि कारक सम्बन्ध होता ही नहीं है यह बात स्वीकार करनी होगी।

IV

वस्तुतः न्याय दर्शन में सम्बन्धों के ताने–बाने में जिस प्रकार की पदार्थ–व्यवस्था प्रस्तुत की गई है, उसमें तादात्म्य के समान अनेक सम्बन्ध हैं और अनेक नये प्रकार के सम्बन्ध मानने भी पड़ते हैं। यदि न माने जायें तो विभिन्न प्रकार के तार्किक, ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय सम्प्रत्ययों का लक्षण करना कठिन होगा। उदाहरण के लिए कार्य मात्र के कारणों में असमवायीकारण को एक आवश्यक कारण माना जाता है। इसका लक्षण करते हुए कहा जाता है कि समवायी कारण में जो प्रत्यासन्न होता है, उसे असमवायी कारण कहते हैं। इसीलिए घटगत रूप, गंध और परिमाण आदि गुणों का कारण कपालगत रूप, गन्ध आदि माने जाते हैं। परन्तु उपर्युक्त लक्षण के अनुसार कपालगत ये गुण घट स्वरूप और घटगत रूपादि गुणों के कारण में विद्यमान नहीं हो सकते। एतदर्थ नैयायिकों को 'स्वसमवायिसमवेत रूप' एक वृत्यनियामक सम्बन्ध की अवधारणा करनी पड़ती हैं। 'स्व' से कपाल रूप का ग्रहण कर उसके समवायी कपाल में घट समवेत होने के कारण इस वृत्यनियामक परम्परा–सम्बन्ध से कपाल रूप और घट स्वरूप दोनों ही गुण समवायिकारण हो जाते हैं। परन्तु ऐसी प्रत्यासन्नता या विद्यमानता को वृत्तिनियामक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी व्यक्ति कपालगत गुणों को सीधे–सीधे घट में विद्यमान नहीं समझता है।

इसके अतिरिक्त नैयायिकों को समानाधिकरण्य या कहें एकार्थसमवाय नामक एक वृत्तिनियामक सम्बन्ध भी परस्पर सहचरित हेतु–साध्य जैसे पदार्थों के बीच मानना पड़ता है। परम्परा सम्बन्ध से नये–नये वृत्तिनियामक सम्बन्धों की अवधारणा भी विभिन्न प्रकार के प्रत्ययों जैसे व्याप्ति, पक्षता, परामर्श, उपाधि, हेत्वाभास इत्यादि के निर्दोष लक्षण के लिए आवश्यक होती है। यद्यपि यहाँ विस्तार से इन सब की चर्चा सम्भव नहीं है फिर भी कुछ एक उदाहरणों पर घटित कर वृत्तिनियामक उपर्युक्त सम्बन्ध की लक्षणोद्देशी आवश्यकता को संकेतित किया जा सकता है। द्रष्टव्य है कि सभी प्रकार के सद् हेतु और सब प्रकार के सद् साध्यों के बीच जो व्यक्तिशः व्याप्ति सम्बन्ध होता है उसका लक्षण हेतु विशेष और साध्य विशेष का निर्देश मात्र करके नहीं किया जा सकता। इसके लिए हेतु–साध्य

का 'स्व' जैसे सामान्य शब्द से निर्देश कर उनके व्यामिश्र व्याप्ति सम्बन्ध को और उसके घटक प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्धों का यथोचित संश्लेषण कर परिभाषित करना पड़ता है। इस प्रकार की परिभाषण प्रक्रिया को ही नव्यन्याय में परिष्कार कहा जाता है क्योंकि वस्तुओं के बीच विद्यमान जो सम्बन्ध नैसर्गिक न होते हुए भी इतर वस्तु निमित्तक या संश्लिष्ट स्वरूप वाले होते हैं, उनके स्वरूप को विशद एवं विविक्त करने के लिए परस्पर सम्बद्ध घटक प्रत्ययों का परिष्कार करना पड़ता है। परिष्कार के द्वारा परिष्कृत प्रत्ययों का प्रातिस्विक स्वरूप उद्घाटित होता है। भले ही साधारण अनुभव में उनकी उपलब्धि अत्यन्त व्यामिश्र रूप में क्यों न होती हो। उदाहरण के लिए एक जटिल वस्तुस्थिति के परिष्कार को यहाँ उदाहरित करना उचित होगा। द्रष्टव्य है कि वस्तुओं के सामान्य अभाव उनके वैयक्तिक अभाव से भिन्न होते हैं। अब यदि वस्तु विशेष के अभाव को लक्षित करना हो तो किसी भी वस्तु का नाम निर्देशन करते हुए उस अभाव को 'वस्तुविशिष्ट अभावत्वम् से लक्षित किया जा सकता है। अब इस लक्षण में वस्तु वैशिष्ट्य नियामक वृत्यनियामक परम्परा सम्बन्ध को 'स्वमात्रवृत्ति–धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वम्' रूप में प्रस्तुत किया जाय तो यह लक्षण सब प्रकार की वस्तुओं के प्रातिस्विक अभाव पर लागू होने वाला लक्षण होगा। यथा, एक घट व्यक्ति का अभाव घटगत तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न या निर्धारित प्रतियोगिता वाला अभाव है। ऐसे ही पट विशेष का अभाव उस पट के विशेष धर्म से अवच्छिन्न या निर्धारित प्रतियोगिता वाला अभाव है। इस प्रकार किसी वस्तु के या उसके आभाव के नाम निर्देश किये बिना सभी विशेषाभावों को इस लक्षण में समाविष्ट कर लिया जा सकता है। पश्चिमी विश्लेषणवादी तर्कशास्त्रियों में रसेल, क्वाइन, कार्नेप, इत्यादि भी इस प्रकार के सम्प्रत्ययात्मक विश्लेषण के पक्षपाती रहे हैं और उनके विश्लेषणों में भी परिष्कार की प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप में दिखाई पड़ती है, लेकिन नव्यन्याय में परिष्कार पद्धति का जैसा अनुप्रयोग देखने के मिलता है वैसा विश्लेषणवादी तर्कशास्त्रियों के विश्लेषण में चरितार्थ होते देख पाना दुर्लभप्राय है।

V

वस्तुतः न्याय दर्शन में संबंधों के स्वरूप और उनके प्रकारों को रेखांकित करते हुए नव्य नैयायिकों द्वारा जिस तरह से उसका परिष्कार किया गया है, वह वस्तुतः सम्बन्धों का एक ऐसा ताना–बाना है जो हमारे सामान्य अनुभव से बहुत अधिक समंजस प्रतीत होता है। परन्तु कुछ एक

भारतीय एवं पश्चात्य दर्शनिकों ने सम्बन्ध की अवधारणा पर ही सवाल खड़ा किये हैं। अतः न्याय सम्मत सम्बन्ध के अन्य पहलुओं पर विचार करने से पहले से उन साधक–बाधक सवालों पर ही विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। इसमें सबसे पहला सवाल तो यह कि यदि वस्तुयें एक दूसरे से पूर्णयता भिन्न हैं तो उनके बीच कोई सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है? कम से कम तथाकथित कोई आन्तरिक सम्बन्ध तो उनके बीच नहीं हो सकता। परन्तु नैयायिक तथा अन्य दर्शनिक भी द्रव्य–गुण, द्रव्य–जाति और गुण–गुणत्व में समवाय रूप आन्तरिक सम्बन्ध मानते ही हैं। यह कैसे सम्भव माना जाय? पाश्चात्य दर्शनिक डैविड ह्यूम ने सभी वस्तुओं को एक दूसरे से भिन्न होने के कारण उनमें किसी भी प्रकार के वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध को सर्वथा अमान्य किया है। बौद्धों ने भी विभज्यवादी वस्तुनिष्ठ सम्बन्धों को सर्वथा अमान्य किया है। बौद्धों के सम्बन्ध विरोधी तर्कों में पहला तर्क सम्बन्ध की द्विष्ठ संरचना में निहित अनवस्था का तार्किक दोष है (द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः। कः सम्बन्धः अनवस्था च न सम्बन्ध मतिस्तथा।। सम्बन्ध परीक्षा – 1)। दूसरा दोष सम्बन्धियों के स्वभाव–व्यामिश्रण से सम्बन्धित है। वह इस प्रकार कि नित्य–अनित्य, द्रव्य–गुण आदि पदार्थ यदि समवाय जैसे आन्तरिक सम्बन्ध से सम्बन्धित हों तो उनके अपने–अपने नित्यानित्यादि परस्पर विरूद्ध स्वभाव या स्वरूप नष्ट हो जायेंगे अथवा उनका व्यामिश्रण गले पतित होगा। अर्थात् नित्य अनित्य में और द्रव्य गुण में सम्प्लवित होने लगेंगे। नैयायिकों की ओर से इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि – वस्तुयें कैसी भी हों और उनमें कितना भी घनिष्ट सम्बन्ध क्यों न हो, वे एक दूसरे के स्वभाव पर आघात नहीं पहुँचा सकतीं। पिता–पुत्र, मां और गर्भस्थ शिशु में अवश्य ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है लेकिन फिर भी वे अपने प्रातिस्विक स्वरूप को नहीं खोते। यदि इस स्पष्टीकरण को मान भी लिया जाय तो एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह कि क्या परस्पर सम्बन्ध के कारण जो बनने वाला विशिष्ट है वह सम्बन्धियों से भिन्न होगा अथवा अभिन्न। न हि विशिष्टः शुद्धादतिरिच्यते–रघुनाथ की इस उक्ति को मान भी लिया जाय तो सम्बन्धियों का परस्पर सम्बद्ध होना ही निरर्थक हो जायेगा। यदि पुत्रोत्पन्न किये बिना ही कोई व्यक्ति पिता बन सकता है, किसी भी अन्य पुत्र के द्वारा, तो पिता–पुत्र के सम्बन्ध को वास्तविक मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। सम्बन्ध यदि सम्बन्धियों को एक दूसरे से

जोड़ने का कार्य न करे और सम्बन्धापन्न होकर भी सम्बन्धी अपनी अलग–अलग सत्ता बनायें रखे तो ऐसी स्थिति में सम्बन्ध जैसी कोई सत्ता मानने का औचित्य ही नहीं रह जाता। ह्यूम और उनके अनुयायी पश्चिमी दार्शनिक तथा बौद्ध इसीलिए वस्तुस्वरूप और सम्बन्ध को परस्पर विरोधी मानते हैं। इनके अनुसार कोई भी वस्तु अपने सजातीय अथवा विजातीय वस्तु के साथ सम्बद्ध हो ही नहीं सकती। बौद्धों के लिए वस्तुमात्र स्वलक्षण होते हैं और यह स्वलक्षणता उनके सर्वतोव्यावृत्त होने में निहित है। तथाकथित स्थूल और स्थिर वस्तु का आभास स्वलक्षणात्मक नहीं होकर सामान्यलक्षणात्मक होता है। बौद्धों के लिए सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्पों में संरचित होने के कारण वस्तुतः असत्कल्प है। असत्कल्प सामान्यलक्षण ही सम्बन्धानिक हुआ करता है और धर्म–धर्मी सारे सम्बन्ध इसी में आभासित होते हैं।

परन्तु बौद्ध समस्त सम्बन्ध की असत्कल्पात्मक अवधारणा अपने आप में एक विस्मयावह बात है। यह बात समझ में नहीं आती कि नित्यप्रति 'बुद्धं शरणं गच्छामि' और 'संघ शरणं गच्छामि' का जाप करने वाले बौद्ध इस शरणागति को सम्बन्ध मात्र के अभाव में किस प्रकार प्रमाणित कर सकते हैं? जब भिक्षु सहित वस्तुमात्र स्वलक्षणात्मक होने से स्वात्मविश्रान्त हैं तो उनका संघ भी कैसे हो सकता है। यदि कहा जाय कि स्वलक्षण क्षणों के संतानों का संघ होता है तो उत्पत्यन्तर निरन्वय विनाशी क्षणों का सभाग या सदृश अथवा असभाग या असदृश सन्तान घटित ही कैसे हो सकता है। निरन्तर विलक्षण क्षणों के उत्पाद–विनाश की प्रक्रिया में सदृश क्षणों का संघ और असदृश क्षणों में संघाभाव सम्बन्ध को माने बिना सम्भव ही नहीं है। पुनः संतान के लिए पूर्वापर भाव की आवश्यकता है और ऐसा पूर्वापर भाव एक प्रकार का सम्बन्ध ही है। यदि पूर्वापर से रहित प्रतिक्षण उत्पन्न होकर विनष्ट होने वाले क्षणभंगुर वस्तुओं में कुछ भी समान न हो तो उनके संतान की भी अवधारणा नहीं की जा सकती। वस्तुतः यह एक प्रकार की श्रृंगापत्ति है जिसका निवारण न तो सम्बन्ध की विशेष प्रकार की सत्ता मानकर अथवा बिलकुल ही नहीं मानकर ही की जा सकती है। सम्बन्ध की विशेष सत्ता मानी जाय तो सम्बन्ध निमित्त विशिष्ट को सम्बन्धियों से भिन्न ही मानना होगा। ऐसा मानने पर पुनः सम्बन्ध की निरर्थकता ही प्रसक्त होगी। सम्बन्ध को मानकर भी सम्बन्धियों को उससे सर्वथा अलिप्त या अप्रभावित माना

जाय तो भी सम्बन्ध की स्वीकार्यता निरर्थक हो जायेगी। वस्तुतः सम्बन्ध की वास्तविक अपेक्षा भेद को सुरक्षित रखते हुए सम्बन्ध को बताने में है। यह अपेक्षा नितान्त भेद और नितान्त अभेद मानने पर पूरी ही नहीं हो सकती।

द्रष्टव्य है कि न्याय दर्शन में मौलिक रूप से संयोग या अभावीय विशेषणता जैसे बाह्य सम्बन्धों की जैसी अवधारणा की गई है, उसमें उपर्युक्त श्रृंगापत्ति के लिए कोई अवकाश नहीं है। उदाहरण के लिए मेज पर कोई पुस्तक रखी हो तो इन दोनों के बीच अस्थायी संयोग सम्बन्ध अवश्य होगा। पुस्तक को मेज पर से हटा लेने पर दोनों का संयोग समाप्त हो जायेगा और उसका स्थान पुस्तक के अभाव की विशेषणता रूप सम्बन्ध ले लेगा। यह दूसरा सम्बन्ध भी संयोग के समान बनने बिगड़ने वाला ही होता है। इस तरह सम्बन्धी परस्पर एक दूसरे से अलिप्त ही रहते हैं। भले ही वे सम्बन्ध काल में सम्बन्ध से लिप्त क्यों न प्रतीत हों। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सम्बन्ध काल में ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से संयोगादि सम्बन्ध के सम्बन्धी लिप्त होते हुए भी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से वे सम्बन्ध से अलिप्त ही रहते हैं। आन्तरिक सम्बन्ध के सम्बन्धियों को इस तरह सम्बन्ध से लिप्त और अलिप्त नहीं माना जा सकता। यह बात अवश्य है कि समवाय जैसे आन्तरिक सम्बन्ध के दोनों सम्बन्धी विनाश पर्यन्त परस्पर सहचरित प्रायः नहीं होते। द्रव्य और द्रव्याश्रित रूप रसादि गुणों की उत्पत्ति क्षण से लेकर विनाश क्षण पर्यन्त एक साथ रहने की बात स्वीकार की जा सकती है। परन्तु 'उत्पन्न द्रव्यं क्षणं अगुणं अक्रियं च तिष्ठति' अर्थात् अपने उत्पत्ति क्षण में द्रव्य गुणादि से रहित ही रहता है और गुण सम्बद्ध द्रव्य कारणता का स्वीकृत न्याय सिद्धान्त वस्तुतः द्रव्य–गुण के नियत साहचर्य मानने में बाधक ही प्रतीत होता है। द्रव्य और द्रव्यत्व समवाय सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध होकर भी नियत सहचारी नहीं होते हैं। यहाँ पर आपत्ति हो सकती है कि यदि घटत्व या मनुष्यत्व जाति से युक्त सभी पदार्थ नष्ट हो जायें तो ये जातियाँ भी या तो नष्ट हो जायेंगी या निराधार ही रहेंगी। परन्तु न्याय दर्शन की ओर से इसका उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि इस प्रकार की प्रलय जैसी स्थिति में भी ये जातियाँ काल में कालिक सम्बन्ध से विद्यमान रह सकती हैं। अतः जातियों के विनाश की बात नहीं सोची जा सकती है।

वस्तुतः देखा जाय तो उपर्युक्त प्रश्न और उसके उत्तर में सम्बन्धों की आन्तरिकता और बाह्यता को समन्वित करने का एक प्रयास दिखाई देता है। इस समन्वय का निहितार्थ यह है कि कुछ पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध

समवाय के समान अति घनिष्ठ अथवा आन्तरिक होते हुए भी इतने घनिष्ठ नहीं होते कि इनके सम्बन्धियों की स्वतंत्र सत्ता ही समाप्त हो जाये। येन–केन प्रकार से इसी स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए न्याय दर्शन में 'उत्पन्न द्रव्यं .... च तिष्ठति' का पुरस्कार किया गया है। किन्तु वस्तु और उसके नित्य जाति का सम्बन्ध जब पूर्णयता आन्तरिक है तो इससे जाति के सत्ता–स्वातंत्र्य की रक्षा तो की जा सकती है लेकिन वस्तु रूप सम्बन्धी की स्वतंत्रता को नहीं बचाया जा सकता। न्याय सम्मत सम्बन्ध की अवधारणा पर यह भी एक प्रकार की श्रृंगापत्ति ही है, लेकिन व्यवहार और सामान्य अनुभव का आश्रय लेकर नैयायिक इससे निकलने का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। वस्तुतः किसी तंत्र के निर्माण में सैद्धान्तिक निष्ठा को जब युक्तिविरह का सामना करना पड़ता है तो यथा दर्शनमभ्यनुज्ञा न्याय या यथोपलब्धिन्याय का आश्रयण ही श्रेयस्कर होता है।

VI

इस प्रकार देखा जाय तो न्याय सम्मत सम्बन्धों के ताने–बाने में संयोग, समवाय और विशेषणता ही सम्बन्ध के भौलिक प्रारूप हैं। इसमें संयोग एक आधारभूत प्रकार का बाह्य सम्बन्ध है।[4] यह सभी द्रव्य पदार्थों का गुण होते हुए भी यावत् द्रव्यों को एक दूसरे से जोड़ने वाला होता है। विभु या सर्वव्यापी परिभाण के आकाश, काल और दिक् आदि द्रव्यों के बीच जो संयोग होता है वह नित्य है, क्योंकि ये पदार्थ सदैव ही एक दूसरे से संयुक्त होकर रह सकते हैं। परन्तु सामान्य द्रव्य पदार्थों के बीच घटित होने वाला संयोग उनके विभक्त होने पर नष्ट हो जाता है और वह संयुक्त परार्थों का प्रायः व्यापन नहीं करता। पेड़ पर बैठे पक्षी का समूचे पेड़ पर बैठना सम्भव नहीं है। अतः पक्षी के पेड़ पर बैठे रहने पर भी पेड़ के कुछ भागों पर उसका अभाव ही रहता है। संयोग की इस दैशिक अव्यापिता को अव्याप्तवृत्तित्व कहते हैं जो अन्य प्रकार के सम्बन्धों में नहीं रहता है। इसी तरह संयोग के समान विभाग भी वस्तुओं का एक गुण है किन्तु वह उन्हें जोड़ने के बदले परस्पर अपसारित करता है। इसलिए विभाग की गणना सम्बन्धों में नहीं की जाती है। ठीक इसके विपरीत समवाय द्रव्य–गुण, द्रव्य–जाति और गुण–जाति इत्यादि को इस तरह जोड़ने वाला सम्बन्ध है कि वे एक दूसरे से अलग प्रतीत ही नहीं होते। लाल कपड़ा पूर्णतया लाल रंग से युक्त होते हुए उससे अलग ही एक वस्तु के रूप में दिखाई नहीं देता। इसी तरह घट में ही घटत्व

सदैव वृत्तिमान् होने पर भी एक दूसरे से अलग दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। वस्तुतः घट में से ही घटत्व एक प्रकार से प्रकट अर्थात् घट व्यक्ति घटत्व जाति का व्यंजक होता है। नैयायिकों ने समवाय[5] सम्बन्ध का पुरस्कार ऐसे ही सम्बन्धों के लिए किया है। यह सम्बन्धियों को ऐसी घनिष्ठता से जोड़ता है कि बहुधा वे एकरूप प्रतीत तो हों लेकिन वे अपनी भिन्नता को एक दूसरे में खो न बैठें।[6] इसतरह समवाय सम्बन्ध को भी बाह्यरूपता और आन्तरिक सम्बद्धता को समन्वित करने वाला सम्बन्ध कहा जा सकता है। नैयायिकों के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शनिक या तो समवाय को मानते नहीं या फिर उसकी व्याख्या दूसरे ढंग से करते हैं।

इसी तरह विशेषणता भी न्याय दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है, जिसे अभाव का भाव पदार्थों के साथ घटित होने वाला सम्बन्ध माना जाता है। मेज पर रखी हुई वस्तु को हटा लेने पर उसका अभाव भेज पर उत्पन्न होता है। चूँकि नैयायिक अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं अतः मेज पर उस वस्तु के अभाव से मेज का कोई न कोई सम्बन्ध होना चाहिए। अभाव और भाव के बीच संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। द्रष्टव्य है कि संयुक्त पदार्थों को तो हम एक दूसरे से अलग कर सकते हैं लेकिन भाव पदार्थ के अपसारण के पश्चात् अभाव स्वयं ही उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। पुनः भाव पदार्थ की उपस्थिति से अभाव स्वयं ही अपने आपको अपसारित कर लेता है। इसी प्रकार के सम्बन्धों के लिए विशेषणता न्यायदर्शन में एक पारिभाषिक संज्ञा है। सामान्य तौर पर विशेष्य–विशेषण भाव में प्रयुक्त विशेषणता अभाव की विशेषणता से भिन्न प्रकार की होती है। इसीलिए इसे अभावीय विशेषणता भी कहा जाता है। इसे स्वरूप सम्बन्ध भी कहते हैं। ऐसा इसलिए कि अभाव बिना किसी सम्बन्ध के स्वयं अपने और अपने आधार के बीच सम्बन्ध का कार्य करता है। इस सन्दर्भ में नैयायिक तो यहाँ तक मानते हैं कि एक ही वस्तु सम्बन्ध और सम्बन्धी दोनों का कार्य अभाव स्थल में करती है।

द्रष्टव्य है कि संयोग, समवाय और विशेषणता रूप मौलिक सम्बन्धों को एक दूसरे से जोड़कर संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, संयुक्त विशेषणता, संयुक्त समवेत विशेषणता जैसे अनेक परम्परा सम्बन्ध भी न्याय दर्शन में स्वीकार किये गये हैं। नैयायिक इन परम्परा सम्बन्धों का बहुधा प्रयोग ज्ञानमीमांसीय सन्दर्भों में करते हैं। इन्द्रियों का विषयभूत वस्तु से

सन्निकर्ष घटित हुए बिना उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता है। एतदर्थ इन विविध सम्बन्धों का पुरस्कार अवश्यक रूप से करना पड़ता है। उदाहरणार्थ द्रव्यगत गुण आदि का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रिय और द्रव्यगत गुणों के बीच संयुक्त समवाय रूप सम्बन्ध के घटित होने पर ही हो सकता है। इन्द्रिय तो द्रव्य के साथ संयुक्त होती है लेकिन द्रव्य के गुण आदि द्रव्य में समवेत रहते हैं। अतः गुणादि का प्रत्यक्ष संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है। यहाँ पर आशंका हो सकती है कि यदि इन्द्रिय संयोग द्रव्य के साथ ही हो (गुणादि के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं हो सकता) तो गुणादि के द्रव्य में समवेत होने पर भी उनका प्रत्यक्ष कैसे हो पाता है? पुनः द्रव्य में अनेक गुण, जाति आदि समवेत होने से किस गुण, जाति आदि का उक्त सम्बन्ध से किस समय ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष होगा, यह बात कैसे निर्धारित की जा सकती है। न्याय दर्शन में इन दोनों प्रश्नों का संतोषजनक समाधान मुझे देखने को नहीं मिला है। इसमें पहली आशंका का स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि द्रव्य के साथ ही इन्द्रिय संयोग होने पर उसके गुण आदि के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय का गुण आदि के साथ उपर्युक्त परम्परा सम्बन्ध ही घटित होना आवश्यक है। अतः संयोग के स्थान पर इन्द्रिय और द्रव्यगत गुणादि के मध्य घटित होने वाला परम्परा सम्बन्ध ही प्रत्यक्षकारक होता है। सरल शब्दों में इस बात का तात्पर्य यह है कि द्रव्य के माध्यम से ही द्रव्यगत गुणों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव् है। परन्तु इस स्पष्टीकरण के बावजूद दूसरी आशंका अपने स्थान पर बनी ही रहती है। इसी तरह संयुक्त समवेत समवाय, संयुक्त विशेषणता आदि अन्य परम्परा सम्बन्ध द्रव्यगत गुणों में रहने वाले गुणत्वादि धर्मों तथा द्रव्यगत कोई अभाव तथा गुणदिगत किसी अन्य वृत्ति से रहने वाले अभाव इत्यादि के प्रत्यक्षीकरणार्थ स्वीकार किये गये हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि ऐसे बहुविध प्रकार के प्रत्यक्षों को आवश्यक नहीं कि उन्हें आनुभविक और उपयोगी माना ही जाय। तब ऐसे कुछ परम्परा सम्बन्धों को त्यागने की नौबत नैयायिकों के समक्ष उपस्थित हो सकती है। वस्तुतः इन परम्परा सम्बन्धों का आधार इतना ही है कि इन्द्रिय और वस्तुभूत पदार्थ में कोई न कोई सम्बन्ध घटित होने पर ही उसका प्रत्यक्ष सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार अब तक हमने सम्बन्ध की अवधारणा के उपर्युक्त न्याय सम्मत विश्लेषण में भावाभाव पदार्थों के बीच बाह्य एवं वस्तुनिष्ठ सम्बन्धों के ताने–बाने को विवेचित किया है। वस्तुयें आपस में सम्बन्धित होती हैं और

उनके सम्बन्ध बनते बिगड़ते रहते हैं। परन्तु वस्तुओं का सम्बन्ध और उनका बनना–बिगड़ना सब कुछ देश और काल में घटित होता है। कोई एक वस्तु जब किसी दूसरी वस्तु से सम्बन्धित होती है तो साथ ही साथ उस वस्तु का देश और काल से भी सम्बन्ध होता है। वस्तुयें तो वस्तु हैं ही लेकिन नैयायिकों के लिए देश और काल भी वस्तुभूत पदार्थ ही हैं। दोनों में अन्तर इतना है कि वस्तुयें देश और काल से परिवेष्ठित रहती हैं। इसीलिए वस्तुओं की कालिकता निर्देशक अब–तब जैसे विशेषणों का प्रयोग सामान्य भाषा में किया जाता है। ऐसे ही वस्तुओं के देशीय सम्बन्ध को यहाँ–वहाँ जैसे क्रिया विशेषणों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। परन्तु देश–काल में परिवेष्ठित एक वस्तु का दूसरी वस्तु से जैसा आधाराधेय भाव होता है वैसा ही उनका आधाराधेय भाव देश और काल से नहीं होता। देश और काल में वस्तुमात्र की सार्वकालिक आधेयता होती है। इसलिए उसका सामान्य आधेयताओं से नितान्त भिन्न प्रकार का होना स्वाभाविक ही है। इसी भिन्नता को व्यक्त करने के लिए दैशिक कालिक सम्बन्ध जन्य वस्तुओं तथा देश–काल को सम्बन्धित करने वाले माने जाते हैं। देश और काल का वस्तुओं से दो प्रकार का सम्बन्ध युगपद् रूप से होता है। विशेषणता सम्बन्ध में देश और काल क्रमशः यहाँ – वहाँ और अभी–तभी रूप से विशेषण बनते हैं। साथ ही साथ कारणता सम्बन्ध की दृष्टि से देश और काल वस्तुमात्र के प्रति सामान्य रूप से निमित्त कारण माने जाते हैं।

अब देश और काल चूँकि वस्तुमात्र की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के प्रति साधारण निमित्त कारण होते हैं[8], अतः देश और काल में वस्तुमात्र की सार्वत्रिक आधेयता होती है। परन्तु कार्य रूप वस्तुओं के प्रति केवल देश–काल ही नहीं बल्कि अन्य भी असाधारण निमित्त कारण की भूमिका का निर्वाह करते हैं। उदाहरण के लिए घटोत्पत्ति रूपी कार्य में कुम्भकार और चक्रचीवर आदि। तब प्रश्न उठता है कि कार्यमात्र के प्रति विभिन्न असाधारण निमित्तों से अलग देश–काल रूपी साधारण निमित्तों की कारणमूलक भूमिका क्या है और उसे किस प्रकार समझी जाय। क्या इनकी भूमिका कार्यरूप वस्तुमात्र के महज अधिकरण होने तक सीमित है? विचार करने पर प्रतीत होता है कि देश और काल की वस्तुमात्र के अधिकरण होने से भिन्न महत्त्वपूर्ण भूमिका भी होती है। ऐसी भूमिका जो असाधारण निमित्त कारणों के द्वारा सम्भव नहीं है।

द्रष्टव्य है कि साधारण निमित्त कारण रूप से 'देश' की एक विशिष्ट भूमिका कार्य रूप वस्तुओं की 'आकृति'[9] को लेकर होती है। ऐसा इसलिए कि वस्तुओं की विभिन्न आकृतियाँ उन वस्तुओं के उपादान से निरपेक्ष देशीय होती हैं। इन दैशिक आकृतियों का स्वरूप उन आकृतियों के आश्रयभूत मूर्त द्रव्यों के उपादानों के स्वरूप पर निर्भर नहीं करता।[10] मूर्त द्रव्यों के रूप, रंग, रस, गुरूत्वादि धर्म तो उपादान सापेक्ष होते हैं लेकिन उनका वर्गाकार, आयताकार अथवा वर्तुलाकार रूप दैशिक आकृतियाँ उपादान निरपेक्ष होती हैं। एक वर्तुलाकार वस्तु लोहे, लकड़ी और तांबे की भी हो सकती है। अतः सभी आकृतियाँ दैशिक होती हैं। इसी तरह साधारण निमित्त कारण रूप से कार्यमात्र के प्रति 'काल' की भूमिका 'क्रमभाव' को लेकर होती है। ऐसा इसलिए कि क्रमभाव क्रिया के आश्रय रूपी मूर्तद्रव्य से निरपेक्ष कालिक होती है। कालिक क्रम एक विशेष प्रकार का क्रम होता है जो वस्तुनिष्ठ क्रियामूलक न होकर कालमूलक होता है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव इत्यादि कालिक क्रम की अपेक्षा रखते हैं। क्रियासन्तान का ग्रहण भी कालसापेक्ष ही होता है। अतः वस्तुओं की 'आकृति' और वस्तुओं का 'क्रमभाव' क्रमशः देशमूलक और कालमूलक ही हुआ करता है। आकृति और क्रम की संकल्पना देश और काल की पूर्वापेक्षा के बिना सम्भव नहीं। देश और काल जब अधिकरण रूप से वस्तुमात्र के साधारण निमित्त कारण होते हैं तो वे वस्तु में भाग नहीं लेते लेकिन वही जब आकृति और क्रमभाव के प्रति कारण की भूमिका में होते हैं तो उसमें भाग लेते हैं।

इस प्रकार न्याय दर्शन सम्मत सम्बन्ध की अवधारणा का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि सम्बन्ध की अवधारण को प्राचीन एवं नव्य न्याय में जिस तरह विकसित किया गया है वह उनकी दर्शनिक योजना के लिए जितना आधारभूत है उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है। इसमें दो राय नहीं कि न्याय दर्शन का पदार्थ–प्रविचय और पदार्थ–व्यवस्था अन्ततः निःश्रेयश को लक्ष्य करके ही प्रस्तुत हुई है। इस पदार्थ व्यवस्था में इन्द्रियग्राह्य प्राकृतिक वस्तुयें, घटपटादि मानव निर्मित वस्तुयें और चैत्र–मैत्र आदि व्यक्तियों का स्वरूप निरूपण सम्बन्ध रूपी पदार्थ को माने बिना सम्भव नहीं है। व्यावहारिक ज्ञान की दक्षता और निःश्रेयशात्मक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए विशिष्ट बुद्धि पूर्वक पदार्थों का स्वरूप निरूपण आश्यक है। वस्तुतः न्याय दर्शन में सम्बन्ध की सम्पूर्ण अन्वीक्षा विशिष्ट बुद्धि पूर्वक पदार्थों के स्वरूप निरूपण

के लिए ही प्रस्तुत हुई है। विशिष्ट बुद्धि की विषयता तीन प्रकार की होती है – विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता। 'दण्डी पुरूषः' इस विशिष्ट ज्ञान में पुरूष में विशेष्यता, दण्ड में प्रकारता और पुरूष तथा दण्ड के मध्य विद्यमान विशेष प्रकार के संयोग सम्बन्ध में संसर्गता रहती है। अवधेय है कि वह जो विशिष्ट ज्ञान का विषय होते हुए भी न तो उसके विशेष्य और न उसके प्रकार की भूमिका निभाता है, वह संसर्ग कहलाता है (विशेषविशेणत्वान्य विशिष्टधी विषयत्वमेव सम्बन्धत्वमिति भावः)। अतः विशिष्ट बुद्धि कारक यावत् द्विष्ठ सम्बन्धों का समाहार 'संसर्गता' में हो जाता है। यावत् सम्बन्ध संसर्गता के ही प्रकार विशिष्ट हैं।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.) 470003

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *प्रतियोगिता और अनुयोगिता के बीच एक तार्किक सम्बन्ध होता है जिसे निरूप्य–निरूपक भाव सम्बन्ध कहते हैं। प्रतियोगिता और अनुयोगिता में एक निरूप्य और दूसरा निरूपक होता है। प्रतियोगिता अनुयोगिता को इंगित करती है तो अनुयोगिता से प्रतियोगिता भी इंगित होती है। उदाहरण के लिए घटभाव की प्रतियोगिता जो घट में होती है वह अभाव में रहने वाली प्रतियोगिता को प्रकाशित करती है। उसी तरह अनुयोगिताा जो अभाव में है वह घट में रहने वाली प्रतियोगिता की दिखलाती है। इन्हें ही परस्पर निरूप्य–निरूपक भाव कहा जाता है।*
2. *आधार–आधेयभाव का नियामक सम्बन्ध वृत्तिनियामक सम्बन्ध कहा जाता है – यस्मिश्च सम्बन्धे सति एकस्मिन्न अपरस्य वृत्तिता, आधाराधेय भावः आश्रयाश्रयिभावो वा प्रतीयते स सम्बन्धः वृत्तिनियामकः।*
3. *वैसा सम्बन्ध जो आधाराधेय भाव का नियामक नहीं होता अर्थात् जो सम्बन्ध विशिष्टबुद्धि का निमित्त कारण होने पर भी आधार आधेय भाव प्रतीतिजनक नहीं होता, वह वृत्ति अनियामक (वृत्यनियामक) सम्बन्ध होता है – यस्मिस्तु सम्बन्धे पूर्वोक्तरूपा वृत्तिता आधाराधेयभावश्च न प्रतीयते केवलं सम्बन्धिभावः स वृत्यनियामक सम्बन्धः।*
4. *इयमिहबुद्धिः प्रवर्तमाना नर्ते सम्बन्धात् प्रवर्तते यथेह कण्डे बदराणीति। नेयं बदरमात्रनिमित्ता न कुण्डमात्र निमित्तेति पदस्या निमित्तं स संयोग इति, न्यायवार्त्तिक, न्या.सू. 2/1/31*

5. अयुतसिद्धानामा धार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इहप्रत्यय हेतुः स समवायः, प्रशस्तपाद भाष्य, न्याय कन्दली, पृ. 37
6. परस्पर संश्लेषो भिन्नानां यत्कृतोभवेत् । समवायः स विज्ञेयः स्वातंत्र्य प्रतिरोधकः। न्यायकन्दली पृ. 786।
7. सिद्धान्त लक्षण तत्त्वालोक प्रकाश (पं. खड़्गनाथ मिश्र) पृ. 49, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय 1996
8. दिक्कालयोः पंचगुणवत्त्वं सर्वोत्पत्तिमत्तां निमित्त कारणत्वञ्च, न्यायकन्दली पृ. 156
9. संस्थानमेवाकृति मन्यते। लोकोऽपि अवयवसन्निवेशात्मिका आकृति व्यपदिशति 'यत्रा कृति स्तत्र' गुणा वसन्ति' इति तस्याद् अवयवसन्निवेश एव आकृतिरूच्यते। न्याय मंजरी, भाग 2, पृ. 31
10. द्रष्टव्य – वैशेषिकपदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, विश्वम्भर पाही, पृ. 142, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, 2000

प्रौद्योगिकी दर्शन और हाइडेग्गर की तकनीकी नास्तिकता

संजय कुमार शुक्ल

प्रौद्योगिकी का दर्शनशास्त्र शीर्षक प्रथम दृष्ट्या अत्यन्त ही विस्मयकारी एवं साथ ही साथ रोचक भी प्रतीत होता है। विस्मयकारिता और रोचकता का कारण यह है कि क्या प्रौद्योगिकी का भी कोई अपना दर्शनशास्त्र संभव है? और यदि संभव है तो इसका स्वरूप एवं क्षेत्र क्या है? प्रौद्योगिकी का सम्बन्ध सामान्यतः यान्त्रिक उपकरण एवं उसकी उपलब्धि, तकनीकी प्रगति एवं नवीन आविष्कारों से है। तो ऐसी परिस्थिति में दर्शनशास्त्र के लिए अवकाश ही कहाँ है। द्रष्टव्य है कि दर्शनशास्त्र का अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध मानव जीवन की समस्त महत्त्वपूर्ण विधाओं से होता है – यथा अर्थशास्त्र का दर्शन, विधि दर्शन, चिकित्सीय दर्शन अथवा नीति शास्त्र, प्रबन्धन का दर्शन, विज्ञान का दर्शन आदि। अतः प्रौद्योगिकी का भी दर्शन क्यों नहीं हो सकता। पुनः देखा जाय तो प्रौद्योगिकी पर दार्शनिक विमर्श उतना ही पुरातन है जितना स्वयं में दर्शनशास्त्र। दर्शनशास्त्र को सेल्लर्स ने इस रूप में परिभाषित किया है कि ''दर्शनशास्त्र यह समझने का प्रयास है कि किसी भी पद के व्यापकतम संभावित अर्थ में किस प्रकार वस्तुएँ व्यापकतम संभावित रूप में परस्पर आश्रित अथवा निर्भर होती हैं।'' यदि दर्शनशास्त्र का स्वरूप ऐसी व्यापकता को समेटे हुए है तो उसे तकनीकी अथवा प्रौद्योगिकी की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि समाज और उसकी वस्तु–व्यवस्था प्रौद्योगिकी पर अवलम्बित है। प्रौधोगिकी मात्र आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं अपितु इसके सामाजिक – सांस्कृतिक एवं राजनैतिक आयाम भी हैं।

I

पारम्परिक समाज में मनुष्य की वैचारिकी परम्पराओं, प्रथाओं एवं मिथकों से जुड़ी होती थी और उनकी व्याख्या अथवा औचित्य का निर्धारण बुद्धि अथवा तर्कणा से संभव नहीं माना जाता था। यूरोपीय प्रबोध काल की

मान्यता थी कि समस्त प्रथाओं एवं संस्थाओं का औचित्य मानवता की उपयोगिता में निहित है। अतः इस निकष के आधार पर विज्ञान एवं तकनीक को मानवीय विश्वासों एवं उसकी अपेक्षाओं की आधारशिला के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई, और वही कालान्तर में एक नये प्रकार की बौद्धिकता या कहें वैज्ञानिक संस्कृति का स्वरूप धारण कर ली है। समकालीन परिदृश्य में तकनीक अथवा प्रौद्योगिकी जगत् में अन्तर्निहित वस्तुनिष्ठ सारतत्त्व का अन्वेषण नहीं करती, अपितु इसका स्वरूप आदि से अन्त तक उपकरणात्मक ही बना रहता है। यह किसी आन्तरिक लक्ष्य अथवा साध्य पर अभिकेन्द्रित न होकर साधन अथवा आत्मकेन्द्रित लक्ष्य तक ही सीमित होती है। वर्तमान में यह प्रवृत्ति मनुष्यों में भी परिलक्षित होती है कि वे या तो साधन एवं साध्य को पूर्णयता पृथक् एवं स्वतंत्र मानते हैं अथवा साध्य एवं साधन में विभेद करने में असमर्थ हैं। प्रौद्योगिकी के दर्शन से सम्बन्धित जो विभिन्न सम्प्रदाय इधर पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में विकसित हुए हैं उनमें उपकरणवादी प्रौद्योगिकी तकनीक को मूल्यों की दृष्टि से तटस्थ स्वीकार करती है। अर्थात् तकनीक स्वयं में न शुभ है और नहीं अशुभ, अपितु इसका निर्धारण प्रयोक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। प्रकृति को स्वयं में मूल्यवान न स्वीकार करके इसे कच्चा माल माना जाता है, जिसे हम जिस रूप में भी चाहे, रूपान्तरित कर सकते हैं। जगत् निरूद्देश्य है एवं इसकी यान्त्रिक व्याख्या ही संभव है जो हमें प्रकृति के दोहन के लिए प्रेरित करती है। द्रष्टव्य है कि 19 वीं शताब्दी में आधुनिकता तकनीकी विकास के द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का पर्याय बन गई, किन्तु 20वीं शताब्दी में विश्वयुद्ध एवं पर्यावरणीय विध्वंस ने आधुनिकता की लक्ष्यहीनता को उद्घाटित किया है। अतः यह कहने में लेशमात्र अतिशयोक्ति नहीं कि उपकरणवादी प्रौद्योगिकी दर्शन हमारी पाश्चात्य सभ्यता का स्वतः प्रवर्तित उत्पादन है जिसे अधिकांश मनुष्यों ने अविमर्शात्मक रूप से स्वीकार कर लिया है। उपकरणवादियों से नितान्त भिन्न दृष्टिकोण हमें तात्त्विक प्रौद्योगिकी दर्शन में दृष्टिगोचर होता है। जहाँ उपकरणवादी मत में तकनीक स्वयं में तटस्थ है वहीं तात्त्विक प्रौद्योगिकी में तकनीक को तात्त्विक मूल्य प्रदान किया जाता है। यहाँ इस दृष्टि–भेद का कारण वस्तुतः दो प्रकार के मूल्य हैं -- तटस्थता के सिद्धान्त में तकनीक को मूल्य तो प्रदान किया जाता है किन्तु यह मात्र औपचारिक है, इसमें मात्र क्षमता ही मूल्यवान है लेकिन यह जरूरी नहीं कि वह आदर्श

जीवन के लिए भी उपयुक्त हो। तकनीक के तात्त्विक मूल्य की स्वीकृति इसके विपरीत आदर्श जीवन, मानवीय पर्येषणा एवं अभीप्सा के साथ यथोचित न्याय करने का प्रयास करती है। तात्त्विक सिद्धान्त की यह मान्यता है कि जब हम तकनीक का चुनाव करते हैं तो अपनी जीवन शैली को क्षमता ही नहीं प्रदान करते अपितु उसके साथ एक विशेष जीवन--पद्धति का भी वरण करते हैं। तकनीक उपकरण (यंत्र) मात्र नहीं है अपितु निश्चित मूल्यों का संवाहक भी है और जिसकी तुलना धार्मिक विश्वासों एवं मूल्यों से इस दृष्टि से संभव है कि दोनों ही अनुनेय हैं। वस्तुतः तकनीक धर्म की तुलना में कहीं अधिक अनुनेय एवं प्रत्यायनीय है क्योंकि इसे स्वीकार करने के लिए किसी विशेष अतीन्द्रिय विश्वास एवं नैतिक सूत्रों में आस्था आवश्यक नहीं होती हैं। तात्त्विक सिद्धान्त का समर्थन 20वीं शताब्दी में हाइडेग्गर के दार्शनिक चिन्तन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वे एक ओर आधुनिकता को तकनीक की अन्य मूल्यों पर विजय के रूप में लक्षित करते हैं तो दूसरी ओर तकनीक के तात्त्विक आधार का अनुसंधान भी करते हैं। यह विजय समस्त पदार्थों और यहाँ तक कि स्वयं मनुष्यों को भी कच्चे माल के रूप में तकनीक की प्रगति के लिए रूपान्तरण है।

समीक्षात्मक प्रौद्योगिकी–दर्शन के अन्तर्गत तात्त्विक दृष्टि से तकनीकी प्रगति के विध्वंसात्मक परिणामों से सहमति स्पष्ट रूपेण दृष्टिगोचर होती है। इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि समस्या स्वयं में तकनीक की नहीं है अपितु तकनीक के प्रबन्धन की है। समस्या के मूल में उपयुक्त प्रभावकारी संस्थाओं का अभाव है जिसके द्वारा तकनीक को एक सुविचारित अभिकल्पना एवं प्रगति की लोकतांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा मानवीय नियंत्रण में रखा जा सके। यहाँ पर द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार से अर्थव्यवस्था को लोकतांत्रिक प्रक्रिया से संचालित किया जा सकता है उसी प्रकार तकनीक भी मनुष्य के द्वारा नियंत्रित एवं अधिशासित हो सकती है। समीक्षात्मक सिद्धान्त एक ओर उपकरणवाद के इस विचार से सहमत है कि तकनीक एक सीमा तक अवश्य नियंत्रणीय है, तो वहीं दूसरी तरफ तात्त्विक सिद्धान्त से उसकी सहमति का बिन्दु यह है कि तकनीक मूल्याश्रित है। यह दृष्टिकोण आपाततः विरोधाभासी प्रतीत होती है क्योंकि तात्त्विक सिद्धान्त में मूल्यों को तकनीक में अन्तर्निहित स्वीकार करने के साथ–साथ यह भी स्वीकार किया जाता है कि इस पर किसी का नियंत्रण संभव नहीं है। मूल्य भी तकनीक की भांति

विलक्षण होते हैं। सभी तकनीकी तंत्र में क्षमता, उपयोगिता एवं शक्ति को मूल्य के रूप में स्वीकृति प्राप्त है। तकनीक का प्रयोग करते हुए हम जगत् अथवा प्रकृति पर अधिकतम मानवीय हितार्थ नियंत्रण एवं उसके परिचालन का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार से जगत् के प्रति यह दृष्टिकोण तकनीकी जीवन–पद्धति को निर्धारित करता है। अतः सार्थक प्रश्न यह है कि किस प्रकार समीक्षात्मक सिद्धान्त में मूल्याश्रित तकनीक पर मानवीय नियंत्रण संभव है? समीक्षात्मक सिद्धान्त में तकनीक के अन्तनिर्हित मूल्यों को सामाजिक विशिष्टता प्राप्त है जिन्हें अमूर्तिकृत रूप में क्षमता अथवा शक्ति के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। तकनीक कोई एक प्रकार की जीवन शैली नहीं अपितु अनेक संभावित जीवन शैली को विकसित करने में सक्षम होती है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत साध्य एवं साधन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त तकनीक मात्र उपकरण नहीं है अपितु जीवन–पद्धति का एक ढाँचा है। समीक्षात्मक सिद्धान्त में उच्च–स्तरीय वरण की स्वतंत्रता है जिसका सम्बन्ध समाज के तकनीकी साँचे अथवा संरचना में अन्तनिर्हित मूल्यों से है। मूल्यों के वरण को लेकर लोकतांत्रिक नियन्त्रण की अनुशंसा इस सिद्धान्त में की गई है, जिसका निहितार्थ विकास एवं उसकी संकल्पना से सम्बन्धित निर्णयों में अधिक से अधिक सहभागिता को सुनिश्चित करना हैं।

II

प्रौद्योगिकी के दर्शन का सम्बन्ध प्रौद्योगिक समाज के प्रति स्वचेतन होने से है जो हमें बुद्धिप्रधान आधुनिकता पर विमर्शात्मक दृष्टि से विचार–विमर्श के लिए संस्कारित, प्रेरित अथवा प्रशिक्षित करती है। प्रौद्योगिकी अथवा तकनीक के स्वरूप एवं प्रस्थिति को लेकर विचारक एक मत नहीं हैं–तकनीक स्वायत्त है अथवा मानव नियन्त्रित। तकनीक की स्वायत्तता का अर्थ यह नहीं है कि वह स्वतः निर्मित है। तकनीक एवं तकनीकी प्रगति मनुष्य के सार्थक प्रयास एवं 'प्रकृतिजयी' संलग्नता का प्रतिफल है, किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य में ऐसे निर्णय की स्वतंत्रता है कि वह तकनीक के भावी दिशा अथवा विकास को निर्धारित कर सके। क्या तकनीकी विकास का अगला चरण हमारे द्वारा निर्धारित है? यदि उत्तर निषेधात्मक है तो तकनीक को स्वायत कहना इस अर्थ में यथोचित है कि आविष्कार एवं नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों के स्वयं के अंतर्भूत नियम होते हैं जिनका मनुष्य

तकनीकी परिक्षेत्र में मात्र अनुपालन करता है। तकनीक को मानव नियंत्रित तब स्वीकार किया जा सकता है जब तकनीकी विकास का अगला चरण मानवीय अभिप्रायों से निर्धारित हो। सामाजिक विज्ञान में तकनीक के प्रति नियतत्त्ववादी दृष्टिकोण मार्क्स के विचारों में परिलक्षित होता है। नियतत्ववाद में तकनीक मानव के द्वारा निर्धारित एवं नियंत्रित नहीं होते अपितु इसके विपरीत तकनीक ही मनुष्य को नियंत्रित एवं समाज को उसकी क्षमता एवं प्रगति की आवश्यकता के अनुरूप निर्मित करते हैं। तकनीक का चुनाव हमारे द्वारा किसी भावावेश अथवा सनक के आधार पर नहीं किया जाता, अपितु इसके चुनाव में मूलभूत आवश्यकताओं एवं लौकिक इच्छाओं की तृप्ति महत्त्वपूर्ण होती है। इस अर्थ में यह निश्चय ही एक प्रकार का बौद्धिक चुनाव है। अतः तकनीक का स्वायत्तशासी स्वरूप जो मनुष्य की जीवनशैली को ही निर्देशित एवं निर्धारित करे, वस्तुतः हमारे समक्ष गंभीर चुनौती प्रस्तुत करता है।

प्रौद्योगिकी के दर्शनशास्त्र का उत्स हमें प्राचीन यूनानी दर्शन में ही प्राप्त हो जाता है और उसका संवर्द्धित रूप आधुनिक एवं समकालीन पाश्चात्य दर्शन में स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होता है। यूनानी दर्शनशास्त्र के प्रमुख विचारक प्लेटो की यह घोषणा थी कि तकनीक प्रकृति से सीखती अथवा उसका अनुकरण करती है एवं इसका समर्थन डेमोक्रिट्स के विचारों में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त यूनानी दर्शन में प्राकृतिक वस्तुओं (फिसिस) एवं मानव निर्मित वस्तुओं (पोइसिस) में मौलिक तात्त्विक विभेद को स्थापित किया गया है। अरस्तू के अनुसार प्रकृति अथवा प्राकृतिक वस्तुओं में उत्पत्ति एवं गति के सिद्धान्त अन्तर्निहित होते हैं। अर्थात् वे स्वतः उत्पन्न हैं जबकि कृत्रिम अथवा मानव निर्मित वस्तुयें अपने अस्तित्व में लिए मनुष्य की व्यावहारिक क्रिया एवं उद्देश्यों पर निर्भर होते हैं। अरस्तू के द्वारा प्रस्तावित कारणता का सिद्धान्त--उपादान, स्वरूप, निमित्त एवं लक्ष्य – प्रौद्योगिकी के दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्लेटो एवं अरस्तू ने तकनीकी प्रतिरूपों का प्रयोग दर्शनिक रचनाओं में प्रचुर मात्रा में किया है। प्लेटो के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की रचना है अर्थात् ईश्वर (डेमी अर्ज) शिल्पकार है। सृष्टि की रचनाओं की व्याख्या के लिए वे रूपक के बतौर काष्ठकला, कताई, धातु विज्ञान एवं कृषि तकनीक आदि को संदर्भित करते हैं। अरस्तू हस्तकला एवं अन्य कलात्मक विधाओं के माध्यम से यह

निरूपित करने का प्रयत्न करते हैं कि किस प्रकार प्रकृति एवं प्राकृतिक प्रक्रियाओं में लक्ष्य अथवा अन्तिम कारण प्रभावी होता है। यूनानी दर्शनिक साहित्य में प्रयुक्त 'टेक्नी' का सम्बन्ध पोइसिस से प्रयुक्त ज्ञान अथवा व्यावहारिक बुद्धि अथवा क्रिया से है और यही 'टेक्नी' वर्तमान में तकनीक से अभिहित होती है। यूनानी दर्शन का वैशिष्ट्य अस्तित्व एवं सार के विभेद में अन्तर्निहित है। अस्तित्व का सम्बन्ध वस्तु की सत्ता से है जबकि सार से उसके स्वरूप का बोध होता है। पोइसिस में अस्तित्व एवं सार का अन्तर अत्यन्त ही सुस्पष्ट एवं यथार्थ है। मानव निर्मित वस्तुओं (पोइसिस) का पहले प्रत्यय एवं सार होता है, तदनुरूप मानवीय प्रयत्न से वे अस्तित्ववान होती हैं। प्रत्येक टेक्नी वस्तुतः सारतत्त्व को अन्तर्भूत करती है। यह सार वस्तु निर्माण के पूर्ववर्ती होता है। अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि यद्यपि मनुष्य कृत्रिम वस्तुओं का निर्माण करता है, लेकिन उसके मूल में जगत् के वस्तुनिष्ठ आयाम का एक निश्चित उद्देश्य अथवा प्रयोजन अवश्य निहित होता है। प्राकृतिक वस्तुओं में अस्तित्व एवं सार का विभेद उतना स्पष्ट नहीं होता है क्योंकि वस्तु एवं सार साथ–साथ उत्पन्न एवं अस्तित्ववान होते हैं। प्लेटो का मानना है कि प्रकृति में भी मानव निर्मित वस्तुओं की भाँति अस्तित्व एवं सार का विभेद निहित होता है। प्राकृतिक वस्तुओं में सार तत्त्व उसका उद्देश्य एवं प्रयोजन है और इस प्रकार से जगत् अर्थ एवं अभिप्रायों से परिपूर्ण है। यदि प्लेटो की इस तात्त्विक दृष्टि को आत्मसात् करें तो हम कदापि स्वयं को प्रकृति का स्वामी नहीं मानेंगे, बल्कि जगत् के अन्तर्निहित प्रयोजनों की सिद्धि में सार्थक भूमिका का निर्वहन करेंगे।

परन्तु आधुनिक प्रौद्योगिकी का दर्शन यूनानी प्रौद्योगिकी के दर्शन से भिन्न है और इस भिन्नता का आधार प्रकृति अथवा जगत् के स्वरूप विषयक दृष्टि भेद है। यूनानी दर्शन (विशेषतः प्लेटो का दर्शन) में प्रकृति को स्वयं में मूल्यवान एवं सोद्देश्य स्वीकार किया गया है, जबकि आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि में प्रकृति को मात्र उपकरणात्मक मूल्य प्रदान किया गया है। अर्थात् उसकी मूल्यवत्ता, सार्थकता मनुष्य के सन्दर्भ में ही सम्भव है। इस सन्दर्भ में डेकार्ट का यह कथन गर्वोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है कि "वैज्ञानिक ज्ञान एवं उसकी प्रगति से हम प्रकृति के नियन्ता एवं स्वामी हो जायेंगे। इसी प्रकार बेकन की यह उक्ति कि ज्ञान ही शक्ति है, किसी न किसी रूप में प्रकृति पर नियंत्रण, विजय एवं उसके दोहन के लिए हमें प्रेरित करती है।

यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि आधुनिकता की प्रयोजना का प्रधान लक्ष्य 'प्रकृति का लौकिकीकरण' है जो हमें प्रकृति का शोषण करने के लिए बौद्धिक औचित्य प्रदान करने की चेष्टा करती है। आधुनिक काल में भी प्राचीन पाश्चात्य दर्शन की भाँति यद्यपि प्राकृतिक एवं कृत्रिम वस्तुओं, अस्तित्व एवं सार में विभेद किया जाता है किन्तु आधुनिक चिन्तन प्रणाली में सार तत्त्व को यथार्थ के बदले और उसके स्थान पर कृत्रिम अथवा गैर पारम्परिक को स्वीकार करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। यहाँ हम वस्तुओं के अर्थ एवं उद्देश्य का अनुसंधान नहीं करते, अपितु उन्हें सृजित करते हैं और जिसकी परिणति मनुष्य एवं जगत् के मध्य खाई अथवा रिक्तता में होती है। मनुष्य का प्रकृति से अलगाव आधुनिक तकनीक का दुष्परिणाम है जिसे रूपक शैली में अपने ही घर से विस्थापन कहा जा सकता है। हाइडेग्गर ने तकनीकी त्रासदी का सुन्दर विश्लेषण अपने दर्शनिक चिन्तन में करते हुए इससे मुक्ति को अपने ही घर में प्रत्यागमन की संज्ञा (होम कमिंग) दी है।

III

यूरोपीय पुनर्जागरण काल में मनुष्य एवं उसके सृजनात्मक प्रयासों, जिसमें तकनीक भी सम्मलित है, को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। अतः इसके फलस्वरूप तकनीक एवं इसके समाज पर पड़ने वाले प्रभावों के दार्शनिक विमर्श में वृद्धि का होना अत्यंत ही स्वाभाविक था। गैलेलियो एवं न्यूटन आदि ने यांत्रिक विश्वदृष्टि को प्रस्तावित किया और सैमुअल बटलर ने तकनीक को सामाजिक – सांस्कृतिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया, परंतु प्रौद्योगिकी के दर्शनशास्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग अर्नेस्ट कैम्प ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'आइने फिलासफी डेयर टेकनीक' में किया है। 20वीं शताब्दी में अनेक विचारकों ने तकनीक और उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका पर समीक्षात्मक विमर्श प्रस्तुत किये हैं जिसमें हाइडेग्गर, फीनबर्ग, इल्लूल, डॉन इहडे, वीनर कार्ल मिट्चैन आदि प्रमुख हैं। ये सभी विचारक मानविकी प्रौद्योगिकी के दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विश्लेषणात्मक प्रौद्योगिकी के दर्शनशास्त्र के रूप में एक नवीन प्रवृत्ति स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होती है जिसका सरोकर तकनीक एवं समाज के सम्बन्ध की तुलना में कहीं अधिक तकनीक के स्वरूप के विश्लेषण से है। तकनीक के विश्लेषण एवं मूल्यांकन में प्रयुक्त होने वाले प्रमुख मानकों को क्षमता, अनुकूलतम परिस्थिति, सुरक्षा एवं संपोषणीयता आदि के रूप में

रेखांकित किया जा सकता है। प्रौद्योगिकी अथवा तकनीक के दर्शनशास्त्र में तकनीक की संकल्पना स्थैतिक न होकर गत्यात्मक है क्योंकि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तकनीक मात्र तटस्थ यंत्र अथवा उपकरण नहीं रह गये हैं। तकनीक के विविध आयाम यथा राजनैतिक घटना (वीनर, फीनबर्ग आदि), सामाजिक गतिविधि (लैटोर, बिजकर आदि), सांस्कृतिक तथ्य (डॉन इहडे, बोगमिन आदि), व्यावसाय मूलक क्रिया (डेविस) एवं संज्ञानात्मक क्रिया (बुंगे, विन्सेन्टी आदि) इत्यादि वर्तमान में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। यद्यपि तकनीक के प्रत्यय में पर्याप्त विविधता पाई जाती है, किन्तु यहाँ उसकी दो सामान्य प्रवृतियों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है – 1. तकनीकी नियतत्ववाद एवं तकनीकी स्वाययता के स्थान पर तकनीकी वरण के स्वतन्त्रता की संभावना। 2. स्वयं में तकनीकी के नौतिक विमर्श की जगह विशिष्ट तकनीकों एवं तकनीक के विशिष्ट चरणों पर नैतिक विमर्श की संभावना।

20वीं शताब्दीं के पूर्वार्द्ध में प्रौद्योगिकी के दर्शन के दो महत्त्वपूर्ण घटक सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण सामने आये हैं। सांस्कृतिक दृष्टिकोण में तकनीक को सांस्कृतिक तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो जगत् विषयक हमारी दृष्टि एवं मानवीय व्यवहार को प्रभावित करता है। प्रौद्योगिकी सम्बन्धी इस दृष्टिकोण का स्वरूप प्रायः फिनोमिनोलॉजकीय रहा हैं। इसका प्रतिनिधित्व डॉन इहडे, एल्बर्ट बोगमिन, पीटर पॉल करबीक, इवान सेल्गिर आदि करते हैं। ये सभी विचारक तकनीक में नैतिक अभिकरण की संभावना को स्वीकारते हैं क्योंकि तकनीक एक सांस्कृतिक उपकरण है जो हमारे विचार, व्यवहार एवं जीवन शैली को प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक दृष्टिकोण में तकनीक राजनैतिक तथ्य के रूप में संदर्भित किया जाता है, जो विभिन्न मनुष्यों में संकल्पित संस्थागत शक्ति सम्बन्धों को अपने में सम्मिलित करता है और स्वयं उनसे नियंत्रित और अधिशासित होता है। तकनीक के राजनैतिक दृष्टिकोण की मूलगामिता मार्क्स के विचारों में अत्यंत ही सुस्पष्ट है, जब वे यह प्रतिपादित करते हैं कि उत्पादन की भौतिक संरचना जिसका एक महत्त्वपूर्ण घटक तकनीक है, समाज के आर्थिक एवं सामाजिक संरचना को निर्धारित करता है। लैगडॉन विनर भी मॉर्क्स की भाँति तर्क देते हैं कि तकनीकें शक्ति एवं सत्ता के विशिष्ट आकारों को समाविष्ट करती हैं। उनकी दृष्टि में कुछ तकनीकें इस

अर्थ में स्वरूपतः मानकीय होती हैं कि वे दृढ़तापूर्वक नियत सामाजिक एवं राजनैतिक सम्बन्धों के साथ संगत होती हैं। फीनबर्ग एवं कुछ अन्य विचारकों की यह मान्यता है कि तकनीकी विकास के स्वरूप और उसकी दिशा के निर्धारण की लोकतांत्रिक प्रक्रिया अर्थात् उसमें सामान्य मनुष्यों की प्रतिभागिता को बढ़ाकर तकनीकी संत्रास से मुक्ति पायी जा सकती है।

प्रौद्योगिकी दर्शन के उपर्युक्त सम्प्रत्ययात्मक विश्लेषण के उपरांत अब हम कुछ प्रतिनिधि पाश्चात्य विचारकों के विचारों को यहाँ उपस्थित करने का प्रयास करेगें जिन्होंने पाश्चात्य तकनीकी सभ्यता पर निर्मम प्रहार किया है। आधुनिक पाश्चात्य तकनीक की आलोचना के तीव्र स्वर इल्लुला, लैगडॉन विनर, हुस्सर्ल एवं हाइडेग्गर आदि की रचनाओं में मुखरित होते हैं। इल्लुल की मान्यता है कि समकालीन तकनीक स्वयं को निरपेक्ष और सम्पूर्ण क्षमता के साधन के रूप में अभिव्यक्त करती है। इसकी निरपेक्ष क्षमता दो अर्थों में निरपेक्ष है। 1. यह निरपेक्ष इस अर्थ में है कि यह अपने साध्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति अधिकतम क्षमता के माध्यम से करती है। 2. इसकी निरपेक्षता का दूसरा अर्थ यह है कि क्षमता एक मात्र निरपेक्ष मूल्य है जबकि अन्य सभी मूल्य इसके अधीनस्थ हो जाते हैं। मानव जीवन का यांत्रिकीकरण 'तकनीक–आर्थिक–उत्पादन' सम्बन्ध में अद्यतन परिवर्द्धन का प्रतिफल है। तकनीक का इतिहास निरपेक्ष क्षमता के अन्वेषण का इतिहास है, एवं साधन की समष्टि से निरपेक्ष क्षमता की प्राप्ति केवल औद्योगिकीकरण से ही संभव है।[1] 19वीं शताब्दी के औद्योगिक क्रान्ति से समाज ने एकान्तिक रूप से तर्काश्रित निकष को विस्तारित करना प्रारंभ किया, जिसके अनुसार क्षमता ही मूल्यवान है। इसके पूर्व की तकनीकी स्थिति यूनानी आत्मनियंत्रण एवं तत्पश्चात् यह ईसाई नैतिकता और 16वीं शताब्दीं के मानवतावाद से प्रभावित थी। तकनीक यहाँ तक जीवन एवं सस्कृति (जिसके अन्तर्गत नैतिक एवं सौन्दर्य विषयक मूल्य महत्त्वपूर्ण होते हैं) के अधीनस्थ थी। वर्तमान में इसके विपरीत तकनीकी प्रगति क्षमता के कलन के अतिरिक्त अन्य किसी से निर्धारित एवं परीक्षित नहीं होती।[2] इल्लुल की दृष्टि में तकनीक कमी भी नैतिक एवं अनैतिक प्रयोग में विभेद नहीं करता है। तकनीक के इतिहास में अपचयन की प्रक्रिया समस्त मूल्यों को क्षमता में घटित करती है जिसकी परिणति तकनीक की स्वायत्तता में होती है। तकनीक की स्वायत्ता के फलस्वरूप मनुष्य तकनीक के द्वारा नियंत्रित होने लगता है। तकनीकी

नियतत्ववाद का अतिक्रमण स्वतंत्र कर्म से सम्भव है जिसका अवबोध धर्मशास्त्रीय प्रतिबद्धता की पृष्ठभूमि में होता है। अतः इल्लुल के अनुसार तकनीकी नियतत्ववाद की समस्या का समाधान तकनीकी मूल्यों को उससे भिन्न मूल्य–व्यवस्था के अधीनस्थ करना है जिसे वे धार्मिक अतिक्रमण कहते हैं और यह नैतिक एवं सौन्दर्य विषयक अनुभूतियों को अपने में समाहित करता है।

लैंगडॉन विनर के अनुसार तकनीकों की समस्यात्मकता का समाधान उन तकनीकों का मानवीय आवश्यकताओं के साथ अन्तर्सम्बन्ध में निहित है। यह वह विधि है जिस पर हमारी सभ्यता अवलम्बित है। इसके अन्तर्गत तकनीक का मूल तत्त्व तकनीक को अन्य साधन की भांति एक साधन मानने में हैं और इसका प्रयोग यथोचित रूप में होना चाहिए। वस्तुतः यह वह मिलन बिन्दु है जहाँ नीतिशास्त्र, राजनीति एवं तकनीक में परस्पर समन्वय स्थापित होता है।[3] विनर के अनुसार 'टेक्नी' का व्यापक अवबोध कालान्तर में 'टेक्नोलॉजिकल लाइफ वर्ल्ड' के रूप में सीमित हो गया, जिसका लक्षण अधिक से अधिक क्षमता अर्जित करना है। प्रारंभ में सभी तकनीकों का विकास मानवीय बुद्धि, अविष्कारिता एवं अनुक्षरणीयता के स्वरूप को परिलक्षित करता है, किन्तु एक सीमा के पश्चात् उनका क्षय होने लगता है और केवल क्षमता को ही मूल्यवान माना जाता है। तकनीकी प्रगति के माध्यम से मनुष्य परिणाम की चिन्ता न करके जगत् में प्रभावशाली परिवर्तन करता है। वह तकनीक एवं तकनीकी संस्थानों का प्रयोग बिना विचार किये करता है और परिणाम स्वरूप यंत्र अप्रत्याशित रूप से मानवीय जीवन को पुनस्थापित कर देते हैं।[4] निरपेक्ष क्षमता की प्रेरणा तकनीकी वस्तुओं से केवल उपयोगिता की अपेक्षा रखती है। विनर के अनुसार तो व्यक्ति संकीर्ण उपयोगिता के प्रतिमान से बंधा हुआ एवं पूर्ण क्षमता के आदर्श से अभिप्रेरित होता है। उसे तकनीक की दशा एवं दिशा से किसी भी प्रकार की असुविधा की अनुभूति नहीं होती है। वे इसके विपरीत मानवीय सृजनात्मकता के क्षय एवं विघटन के लिए उत्सव मनाते हैं। उन्हें धार्मिक विश्वास को अंधविश्वास, नैतिक संशय को अतार्किक भय एवं सौन्दर्यविषयक सरोकर को अप्रचलित की उपाधि देने में तनिक असुविधा भी नहीं होती।[5] इल्लुल एवं विनर के इस समीक्षा से यह बात उभरकर सामने आती है कि तकनीक के संदर्भ में तटस्थ एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को अंगीकार करना

अत्यन्त ही कठिन है। हाइडेग्गर इस कठिनाई को संज्ञान में लेते हुए आधुनिक तकनीक को पाश्चात्य सभ्यता की विश्वदृष्टि के रूप में अवधारित करते हैं और उनकी धारणा है कि इसके बाहर जाना सहज नहीं है। यह एक असाधारण परिस्थिति है जो हमें बौद्धिक समीक्षा एवं नैतिक मूल्यांकन के परे ले जाती है।

IV

अब यहाँ प्रसंगवश हाइडेग्गर कृत पाश्चात्य तकनीक एवं तकनीकी सभ्यता की समीक्षा के पूर्व हुस्सर्ल एवं गाँधी के विचारों का अनुशीलन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वे दोनों तकनीकी विश्व दृष्टि को मानवीय सभ्यता के संदर्भ में गंभीर त्रासदी मानते हैं। इस सन्दर्भ में एडमंड हुस्सर्ल के जीवन–लोक (लाइफ–वर्ल्ड) की अवधारणा अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, जिसके माध्यम से वे अतिवैज्ञानिक तकनीकी जीवन–पद्धति की सीमाओं को रेखांकित करते हैं। यह ऐसी अवधारणा है जो मात्र हमारे मानसिक आध्यात्मिक लोक में ही अवस्थित होती है। इस चतुर्दिक व्याप्त विश्व की प्रकृति को आत्मा से इतर एक अजनबी की तरह देखना और इस कारण से मानवीय विज्ञान को तथाकथित शुद्ध विज्ञान बनाने के लिए प्राकृतिक विज्ञान से उसे पुष्ट करने का प्रयत्न अत्यन्त ही अर्थहीन एवं अनर्गल प्रयास है। मॉरिस मर्लो पोंती की दृष्टि में यह विश्व "मेरे द्वारा" जिया जा रहा संसार है, मेरे द्वारा विचारित संसार नहीं। हुस्सर्ल का दर्शन जीवन लोक तक ही सीमित है किन्तु हाइडेग्गर के "बींग एण्ड टाइम" में यह व्यवस्थित ढंग से कार्य–रूप में परिणत होता है। हाइडेग्गर के दर्शन में मनुष्य (दजाइन) का सम्पूर्ण विश्लेषणात्मक विवेचन जीवन–लोक की सत्ता विषयक अन्वीक्षा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से प्रेरित है। उसकी विवेचना हुस्सर्ल करते हुए बताते हैं कि दजाइन का अर्थ है कि मनुष्य एकाकी नहीं अपितु अन्य मनुष्यों एवं वस्तुओं के परिवेश में अवस्थित है, अर्थात् मनुष्य का अर्थ है संसार में अवस्थित मनुष्य। हाइडेग्गर के अनुसार हमारे जगत् में होने का ढंग हमारी आधारभूत आत्मसंगति (एट्यूनमेन्ट) से निर्धारित होता है। मनुष्य एक प्रयोजना (प्रोजेक्ट) है क्योंकि वह सदैव एक ऐसे संसार में जन्म लेता है जो पहले से अर्थवान् है, अर्थात् वह अर्थों की एक समग्र संरचना में अवतरित होता है। हुस्सर्ल एवं हाइडेग्गर का यह दृष्टिकोण तकनीकी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विरोधी है क्योंकि तकनीकी जगत् स्वयं में अर्थवान् अथवा मूल्यावान नहीं

होता है। हुस्सर्ल के अनुसार जीवन–लोक (लिबेंस--वल्र्ड) वस्तुतः प्राग–वैज्ञानिक लोक एवं विज्ञान की वस्तुनिष्ठ जगत् की आधारशिला है। यह हमारे सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक निष्पादन का मंच है जो हमें सार्वभौम क्षेत्र के रूप में प्रदत्त है।[6] बर्गर ने जीवन--लोक के प्रत्यय के महत्त्व को इस रूप में रेखाकिंत किया है कि आधुनिक मनुष्य गृहहीनता के गहराते संकट से ग्रस्त है, और यह उसकी तत्त्वभीमांसीय क्षति है। हुस्सर्ल एवं हाइडेग्गर में दर्शनिक समानता का आधार विज्ञान एवं वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का मानव जीवन पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को उद्घाटित करने में है। जहाँ हुस्सर्ल यूरोपीय विज्ञान के संकट के रूप में जीवन–लोक का लोप पाते हैं वहीं हाइडेग्गर वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति में स्पष्ट रूपेण अमानवीयकरण की प्रबल प्रवृत्ति को पाते हैं और जिसकी परिणति सत् (बीगं) के अन्वेषण का लोप है। वैज्ञानिक प्रगति भले ही हमें सांसारिक सुख साधनों से सन्तुष्ट करें (लोकेषणा तृप्त करे), किन्तु यह कदापि हमारे मनुष्य होने के सारतत्त्व से सम्बन्धित पर्येषणा के साथ न्याय नहीं कर सकती है। अतः हुस्सर्ल के जीवन–लोक का प्रत्यय अतिवैज्ञानिकता के प्रति विद्रोह को परिलक्षित करता है।

महात्मा गाँधी ने भी इसीतरह आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की तीव्र आलोचना अपनी मौलिक रचना 'हिन्द स्वराज' में प्रस्तुत की है जिसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष आधुनिक सभ्यता और तकनीक का अतःसम्बन्ध है। गाँधी चिन्तन में आधुनिक यन्त्रों की निन्दा का मूल उनके साधन की पवित्रता के सिद्धान्त में निहित है, क्योंकि यंत्र अथवा उपकरण प्रथम दृष्ट्या साधन ही हैं। यह एक अलग बात है कि तकनीक एवं तकनीकी यंत्र अपने मौलिक स्वरूप में तटस्थ साधन नहीं कहे जा सकते। यदि यंत्रों को तटस्थ साधन के रूप में कल्पित करें तो उनके दुष्परिणामों का प्रमुख दायित्व प्रयोक्ता की नैतिक चेतना पर निर्भर होगा, किन्तु यदि यंत्र स्वयं में तटस्थ साधन नहीं हैं तो यंत्रों के दुष्परिणामों को यंत्रों के स्वरूप से ही सम्बन्धित मानना पड़ेगा। गाँधीजी ने दोनों ही दृष्टियों से यंत्र (मशीन) की आलोचना की है। उनके कुछ कथनों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे यंत्र मात्र के विरोधी नहीं थे अपितु वे यंत्रों के स्वरूप और उसके उपयोग की सीमा निर्धारित करने के पक्षधर थे। उनके अनुसार विज्ञान एवं तकनीकी विकास और यंत्रों के आविष्कार को लोभ का साधन नहीं बनाना चाहिए। वे यंत्रों के उपयोग के प्रति चयनधर्मी

और परिसीमनवादी दृष्टिकोण रखते थे। उनकी इस दृष्टि में चयनधर्मिता का विशेषार्थ यंत्रों की प्रकृति और उसके प्रकार विषयक भेद में प्रतिफलित होती हुई प्रतीत होती है। यहाँ पर कहने का आशय यह है कि गाँधी मनुष्य के सहयोगी यंत्र के विरोधी नहीं थे अपितु उनका विरोध ऐसे यंत्रों अथवा तकनीक से था जो मनुष्य को विस्थापित कर अपनी स्वायत्ता स्थापित कर लेते हैं। वे तकनीकीकरण की अतिवादिता के आलोचक हैं एवं मनुष्य तथा मशीन के मध्य मुक्त सम्बन्ध का अनुमोदन करते हैं। वर्तमान में अतिवैज्ञानिकता का प्रभाव यह है कि उसने मनुष्य के शरीर, मन एवं आत्मा आदि को भौतिकवादी अवधारणा में घटित कर एक जीवनदृष्टि विकसित कर ली है जो कि धार्मिक, सांस्कृतिक जीवनदृष्टियों का विस्थापक है। गाँधीजी तकनीक को आधुनिक सभ्यता के महत्त्वपूर्ण उपकरणात्मक घटक के रूप में देखते हैं तो वहीं हाइडेग्गर की दृष्टि में तकनीक अपने आप में एक नवीन प्रकार की विश्व सभ्यता की उद्भाविका है। यह ऐसी विश्व सभ्यता है जो मनुष्य को उसके ही घर से बेघर कर देने वाली, जगत् से दैवीय दीप्ति को उड़ा देने वाली है। अतः हम निष्कर्षरुपेण यह कह सकतें है कि गाँधीजी जिस वैकल्पिक सभ्यता बोध को प्रस्तावित करते हैं उसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और प्रकृति के विदोहन तथा तकनीक द्वारा मनुष्य के विषयीकरण (ऑब्जेक्टिफिकेशन) एवं विस्थापन के लिए कोई अवकाश नहीं हैं।[7]

V

अवधेय है कि विनर एवं इल्लूल ही वैसे विचारक नहीं हैं जो तकनीक के नैतिक एवं मूल्यात्मक वियोजन का प्रतिवाद करते हैं, अपितु हाइडेग्गर भी अपनी महत्त्वपूर्ण रचना 'बेसिक राइटिंग्स' में तकनीक के मूलतत्त्व का उद्‌घाटन कर उसे स्वरूपतः निंदनीय पाते हैं।

हाइडेग्गर के लिए तकनीक के सार (स्वरूप) का प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि में तकनीक मात्र उपकरण अथवा मानवीय साधन नहीं है जो कि स्वरूपतः तटस्थ है, अपितु यह सत् के विशिष्ट उद्‌घाटन का माध्यम भी बनता है। वैज्ञानिक ज्ञान के अन्तर्गत सत् का विशेष रूप में आविर्भाव एवं वस्तुओं का एक नियत संदर्भ में ग्रहण होता है और तकनीक इसका साँचा है। अतः तकनीक का सारभूत अर्थ है ''जगत् को एक विशेष साँचे में गढ़ देना'', जिसे हाइडेग्गर अपनी शब्दावली में एनफ्रेमिंग कहते हैं। तकनीक के लिए यह संपूर्ण जगत् एक संसाधन मात्र है और उसी

प्रकार मनुष्य भी एक वस्तु ही है। तकनीक का कार्य दोनों को एक विशेष प्रकार के साँचे में ढालकर एक दूसरे के सम्मुख प्रस्तुत होने के लिए विवश कर देना है। वे विश्व के निर्बाध तकनीकीकरण को 'तकनीकी नास्तिकतावाद' (टेक्नोलॉजिकल निहिलिज्म) से अभिहित करते हैं और इस नास्तिकता से जो सर्वाधिक खतरें में है, वह मनुष्य की प्रवृत्ति (स्वरूप) है। तकनीक का दुष्प्रभाव यांत्रिक जीवनशैली एवं मनुष्य का अमानवीकरण है, जो कि मनुष्य के स्वरूप–बोध का विस्मृतिकरण है, जिसे हाइडेग्गर अप्रामाणिक जीवन की संज्ञा देते हैं। इसने मनुष्य की समझदारी को इस सीमा तक रूपान्तरित (कलुसित) कर दिया है कि उसकी मनुष्यता ही विलुप्त प्रायः हो रही है। हाइडेग्गर हमें सचेत करते हैं कि सबसे बड़ा खतरा परमाणविक युद्ध का नहीं और न ही इसी प्रकार के अन्य विध्वसंकारी तकनीकों का है, अपितु वास्तविक खतरा इस बात में निहित है कि कहीं एक दिन ऐसा न हो जाये कि जीवन एवं जगत् की वैज्ञानिक–तकनीकी समझ (अवबोध) को ही समझ का एकमात्र प्रकार स्वीकार कर लिया जाये।[9] आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के वर्तमान दौर में वस्तुतः ऐसी ही समझ एक रेखीय रूप में स्वीकार्य हो रही है और इस प्रकार से मनुष्य तकनीकी आधिपत्य के समक्ष असहाय सा हो गया है। यह मनुष्य की समस्त अभिरूचि, प्रवृत्ति, प्रेरणा एवं अभीप्साओं को अपने ही साँचे में ढालने में प्रवृत्त (उद्यत) होती है और जो कुछ भी इस वैज्ञानिक साँचे के बाहर है वह निरर्थक एवं अप्रासंगिक है। अतः हाइडेग्गर तकनीक के सार तत्त्व को समझने के उपरान्त विश्व के निर्बाध तकनीकीकरण को मनुष्य की समझदारी की समस्या के रूप में देखते है और उनकी दृष्टि में इसका समाधान भी मनुष्य की समझदारी में ही निहित है। हाइडेग्गर इसे 'टर्निंग' कहते हैं और उनके दर्शनिक चिन्तन का एक विशेष लक्ष्य विश्व के अप्रतिहत तकनीकीकरण के निहितार्थों का विश्लेषण कर तद्विषयक मनुष्य की समझदारी में परिवर्तन एवं इसके द्वारा मनुष्य को तकनीक के साथ मुक्त सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार करना है। हाइडेग्गर मनुष्य एवं तकनीक के मध्य मुक्त सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि विज्ञान एवं तकनीकी जन्य विकास की अनदेखी संभव नहीं है किन्तु उसे इस मूल्य पर स्वीकार भी नहीं किया जा सकता है कि वह मनुष्य के मनुष्य होने को ही अर्थहीन बना दे। मनुष्य और तकनीक के मध्य मुक्त सम्बन्ध का अर्थ तकनीकी संसाधनों को मिटाना नहीं है, अपितु उनका प्रयोग

उसी सीमा तक किया जाना चाहिए जिस सीमा तक उन्हें अत्यावश्यक ठहराया जा सके। तकनीक के प्रति ऐसी परिसीमनवादी दृष्टि से ही तकनीक के अनावश्यक बोझ से मुक्त जीवन की कला विकसित की जा सकती है। अत्यावश्यक तकनीक का प्रयोग उचित है, किन्तु उसे मनुष्य पर आधिपत्य स्थापित करने का अधिकार नहीं दिया सकता है, जो हमें दिग्भ्रमित एवं नियन्त्रित करे तथा प्रकृति पर नियंत्रण एवं उसका बेसुमार दोहन करे।[10] तकनीक ने हमारी सोच अथवा जीवन दृष्टि में बदलाव किया है। अतः उस सोच में परिवर्तन करके ही जीवन एवं जगत् के मौलिक स्वरूप को आत्मसात किया जा सकता है। हाइडेग्गर ने इस प्रकार के वैचारिक बदलाव की संभावना जापान, रूस, चीन एवं भारत की प्राचीन बौद्धिक परम्पराओं एवं जीवन शैली में पाते हैं जिसे उन परम्पराओं ने अपने–अपने तरीकों से क्रियान्वित किया है। किन्तु उनकी यह मान्यता भी है कि पश्चिमी मन किसी पौर्वात्य अनुभवों के सहयोग से अपने दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन नहीं कर सकता, भले वह निरकुंश तकनीकी नास्तिकता के चक्रव्यूह से न बच सके। यह कहना सर्वथा उचित है कि विचार के द्वारा विचार अथवा सोच में परिवर्तन संभव है किन्तु चिन्तन की प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें रूपान्तरण स्वकीय विचार परम्परा के अन्तर्गत ही घटित होकर सार्थक होता है। अतः पाश्चिमात्य मन की दुर्बलता एवं तकनीकी नास्तिकता के प्रतिरोध की अपरिहार्यता को संज्ञान में लेते हुए हाइडेग्गर ने कहा कि उन्हें कोई ईश्वर ही बचा सकता है (ओन्ली गॉड कैन सेव अस)।[11]

VI

हाइडेग्गर तकनीक के सारतत्त्व (स्वरूप) की विवचेना करने के उपरांत उसका विश्लेषण फिनोमिलोलॉजकीय अस्तित्ववादी दृष्टि से भी करते हैं। उन्होंने इस प्रकार का विचार 'कन्ट्रीब्यूशन्स टू फिलॉसफी' के द्वितीय अनुच्छेद, जिसका शीर्षक 'ईको' है, उसमें किया है। ईको का केन्द्रीय विषय वैज्ञानिक संकट एवं यान्त्रिकीकरण है। संकट से उनका आशय सत् का परित्याग है, जबकि यान्त्रिकीकरण की प्रमुख प्रवृत्ति सुविचारित बौद्धिकता के तर्कशास्त्र के द्वारा समस्त पदार्थों का परिचालन है। यांत्रिकीकरण मनुष्य की ऐसी मनोदशा का द्योतक है जिसमें समस्त पदार्थ मनुष्य के उपभोग एवं परिचालन के लिए उपलब्ध हैं और जिसकी परिणति जीवन्त अनुभूतियों का विलोप है। अतः हम कह सकते हैं कि हाइडेग्गर के दर्शनिक चिन्तन में

तकनीकी प्रतिवाद का मुख्य विषय 'तकनीकी नास्तिकतावाद' एवं 'संकुचित वैज्ञानिकता' है। तकनीकी खतरे के मूल में तकनीकी अवबोध है जिसका स्वरूप एकल अपचयन एवं एकआयामिता है। मनुष्य का संसाधन के रूप अपचित होना एवं तकनीकी अवबोध को सत् के अवबोध का एकमात्र माध्यम स्वीकार करना हाइडेग्गर की दृष्टि में सर्वथा अनुचित है। अतः मनुष्य सत् के मौलिक उद्घाटन अथवा उसके पुकार से वंचित हो जाता है। तकनीकी नास्तिकतावाद से मानवीय क्षति जगत् के संदर्भ में नहीं अपितु स्वयं मनुष्य के स्वरूप (सार) के संदर्भ में होती है। यह सृष्टि पर आधिपत्य का खतरा है – जिसमें मनुष्य को संपूर्ण प्रकृति पर स्वामित्व के उद्देश्य से कल्पित किया गया है।[12] हाइडेग्गर के दर्शनिक चिन्तन में प्राग–वैज्ञानिक, न्यून तकनीकी जीवन शैली और सिद्धान्त की जगह कार्यान्वयन के प्रति सहज आकर्षण दृष्टिगोचर होता है। वे 'डेर स्पाइगल' के साक्षात्कार में अपनी भावनाओं को गोपित नहीं रखते हुए परम्परा एवं पांरपरिक मूल्यों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि मनुष्य के उन्मूलन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई है और इसके फलस्वरूप केवल तकनीकी सम्बन्ध अवशिष्ट रह गए हैं। हाइडेग्गर दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि सभी महान् एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का कारण यह था कि मनुष्य का एक गृह होता था जो परम्पराओं में मूलित हुआ करता था। हाइडेग्गर ने वैज्ञानिक–तकनीकी अवबोध को 'एनफ्रेमिंग' की संज्ञा दी है जो कि एक प्रकार का मानसिक अनुकूलन (मेंटल कॅनडिशनिंग) है और जिसकी परिणति सत् की विस्मृति है। तकनीकी नास्तिकतावाद का दुष्प्रभाव मनुष्य का उसके स्वरूप (मूल) से अलगाव है। वे तकनीकी खतरे को संज्ञान में लेते हुए उसके समाधान हेतु एक नवीन प्रकार के अवबोध अथवा चिन्तन को प्रस्तावित करते हैं जिसे ध्यानस्थ चिन्तन (मेडिटेटिव थिंकिग) से अभिहित किया जा सकता है। यह नवीन अवबोध स्वरूपतः कुछ–कुछ प्राग–वैज्ञानिक एवं आदिम जैसा प्रतीत होता है। इस प्रकार के नवीन अवबोध में सुविचारित बौद्धिकता (कैल्कुलेटिव रैशनैलिटि) की प्रधानता होती है जो सत् के आद्य मौलिक स्वरूप के बोध के मार्ग को प्रशस्त करता है। ध्यानस्थ चिन्तन के माध्यम से मनुष्य एवं तकनीक के मध्य मुक्त सम्बन्ध की स्थापना संभव है और इसका वैशिष्ट्य यह है कि मनुष्य की जीवनशैली तकनीकी आधिपत्य से मुक्त होती है। वस्तुओं से निर्मुक्ति एवं सत् के रहस्य का उद्घाटन हमें जगत् में पूर्णतया

भिन्न दृष्टिकोण से प्रवेश दिलाता है और यही हाइडेग्गर के विचार में तकनीकी नास्तिकतावाद से पार पाने का आधुनिक मानवीय मार्ग है। दूसरे शब्दों में तकनीकी उपकरण का अनासक्त प्रयोग तकनीकी नास्तिकतावाद से मुक्ति का सशक्त माध्यम है।

दर्शन विभाग
यूईंग क्रिश्चियन कॉलेज
इलाहाबाद

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. इल्लुल, जे, दी टेक्नोलॉजिकल सोसाइटी, न्यूयार्क, 1964 पृ. 52–53
2. वही, पृ, 74
3. विन्नर, एल, ऑटोनामस टेक्नोलॉजी, कैम्ब्रिज : दी एम. आइ. टी. प्रेस, 1977 पृ, 327
4. वही, पृ, 314
5. वही, पृ, 327
6. हुस्सर्ल, एडमण्ड, दी क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइन्स एण्ड ट्रान्सेन्डेन्टल फिनोमेनोलॉजी, अनु, डेविड कार, नार्थ वेस्टर्न यूनीवर्सिटी प्रेस, 1970 – 145
7. हाइडेग्गर, मार्टिन, दी क्वेश्चन कन्सर्निंग टेक्नोलॉजी एण्ड अदर एस्सेज, अनु. विलियम लोविट, न्यूयार्क हार्वर एण्ड रो, 1977, पृ. 287
8. वही,
9. हाईडेग्गर, मार्टिन, "मेमोरियल ॲड्रेस" डिस्कोर्स ऑन थिंकिग में, अनु. जॉन एम. एण्डरसन एवं इ. हान्स फ्रॉयंड, न्यूयार्क हार्पर कोलोकॉन बुक्स, 1969, पृ. 56
10. हाइडेग्गर मार्टिन "दी प्रिंसिपल ऑफ आइडेन्टिटी" आइडेन्टिटी एण्ड डिफरेन्स में, अनु. जोआन स्टैम बांग, शिकाओं, आइ एल दी यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 2002, पृ. 54
11. द्रष्टव्य, अम्बिकादत्त शर्मा, हिन्द स्वराज और कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो का पुनर्पाठः मार्क्स, गांधी और हाइडेग्गर कृत आधुनिक सभ्यता की पर्यालोचना, उन्मीलन, वर्ष 23, अंक–2, जुलाई 2009
12. हाइडेग्गर, मार्टिन, "दी ऐज ऑफ दी वर्ल्ड पिक्चर", दी क्वेश्चन कन्सर्निंग टेक्नोलॉजी एण्ड अदर एस्सेस में, अनु. विलियम लोविट, न्यूयार्क, हार्वर एण्ड रो, 1977, पृ. 132

भारतीयता और राष्ट्रीय अस्मिता

अशोक वोहरा

हमारी सभ्यता को निरंतरता और स्थायित्व प्रदान करने वाले भारतीयता के प्रत्यय में रहस्यवादी तत्त्व की ओर अल्लामा इक़बाल ने अपनी कविता ''तराना ए हिन्द'' में यह कहते हुए हमारा ध्यान खींचा था :–

यूनान, मिश्र, रोमाँ, सब मिट गए जहाँ से,
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
बाकी मगर है अब तक नामो निशां हमारा,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा,
इकबाल कोई मेहरम अपना नहीं जहाँ में,
मालूम क्या किसी को दौरे निहां हमारा।

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि शताब्दियों से हमारी सभ्यता के चिरंतन या निरंतर अस्तित्व के लिए क्या जिम्मेवार है। स्पष्टतः हमें अन्य सभ्यताओं से भिन्न करने वाला वह तत्त्व है हमारा सुनिश्चित गुण यानी भारतीयता। 'भारतीयता' किसमें निहित है? इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयास के आरंभ में ही यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'भारतीयता' निश्चित रूप से न तो भारतीय कहलाने वाले लोगों के सीमाक्षेत्र में, न ही उस सीमाक्षेत्र की भौगोलिक स्थिति में और न ही उनके इतिहास में, निहित है क्योंकि ये सब तो अन्य सभ्यताओं – जिनमें से लगभग सभी कालग्रस्त हो गयी हैं, में भी पायी जाती हैं। 'भारतीयता' से हमारा अर्थ होता है वे परंपरागत सांस्कृतिक मूल्य और वह जीवन्त समग्र जीवन शैली जिसका पालन सभी भारतीय करते हैं, चाहे वे भारत की सीमा में रहते हों या भारतीय सीमा के बाहर। ये वे मूल्य हैं जो भारतीयों के मन में भरे हैं, वह जीवन–शैली है जो हमारे समस्त व्यवहार में झलकती है। इन्हें कोई सिखाता नहीं है, वे तो भारतीय जीवन शैली में जीने वाला स्वयं ही सीख जाता है। जैसा कि इक़बाल ने कहा हैः ''गुरबत में हों अगर हम रहता है दिल वतन में, समझो हमें वहीं पर दिल हो जहाँ हमारा।'' और हमारा दिल वहीं रहता है जहाँ हमारे मूल्य, हमारी संस्कृति और परंपरा का पालन होता है, जहाँ हमारे में रची–बसी जीवन–शैली होती है।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि हमारी भौगोलिक पहचान 'बाहरी लोगों ने' या 'अन्यों, परों' ने हम पर थोपी थी, वह उस भौगोलिक भू–भाग में रहने वालों द्वारा नहीं रची गयी थी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि भारतीयों, यानी सिंधु नदी के इस पार रहने वाले लोगों को अपनी पहचान का सूचक बनने वाले भौगोलिक और ऐतिहासिक घटकों के महत्त्व का पता नहीं था, जैसा कि कुछ भारत–अध्ययन करने वाले मनीषी सोचते हैं। सिन्धु नदी के इस पार रहने वाले लोग अपने निवास क्षेत्र को भारतवर्ष, मातृभूमि, धर्मभूमि, देवभूमि, कर्मभूमि, जम्बूद्वीप, भरत–खण्ड अथवा भारत माता जैसे कई अन्य नामों से पुकारते थे। ईरानी लोग इस भूखण्ड को 'हिन्दुस्तान' कहते थे। यह महज़ संयोग नहीं है कि आज भी किसी धार्मिक अनुष्ठान के प्रारंभ में, या प्रातःकालीन और सांध्यकालीन संध्या के प्रारंभ में यह, या इससे मिलता–जुलता संकल्प उच्चारित किया जाता है जिसमें स्पष्टतः कहा जाता हैः''... कलियुगे वैवस्वत मनवन्तरे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे... दण्डकारण्ये ... संवत्सरे ...'' इत्यादि। हिन्दू कहलाने वाले लोगों के रहने के भौगोलिक क्षेत्र को प्राचीन भारतीय साहित्य में अधिकतर भारतवर्ष का नाम दिया गया है। इस क्षेत्र में रहने वाले लोग स्वयं को भारतवासी अथवा भारतीय कहते हैं – जिसका अर्थ है भारत में रहने वाले। भारतवर्ष की सीमाओं का वर्णन विष्णुपुराण 11.3.1 में इस प्रकार दिया गया है :–

उत्तरम् यत समुद्रस्य हिमाद्रेशचैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

अर्थात् समुद्र के उत्तर में वह भू–क्षेत्र जो हिमालय तक फैला है उसे भारत कहते हैं और उसमें रहने वाले लोग भारतीय कहलाते हैं। मनु ने भी अपने ग्रन्थ मनुस्मृति II. 23.26 में कहा है कि ''वह क्षेत्र जो पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों अर्थात् हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी के मध्य स्थित है और जो विन्ध्याचल और हिमालय तक फैला है आर्यावर्त कहलाता है।'' पुराणों के अनुसार भारतवर्ष में निम्नलिखित प्रदेश एवं स्थान पाए जाते हैः ''इसके मध्य में इलाव्रत है और पूर्व में भद्रवर्ष है। इसके दक्षिण–पूर्व में हिरण्यक है और दक्षिण में भारत है। इसके दक्षिण–पश्चिम में हरि और पश्चिम में केतुमाला है। इलाव्रत के उत्तर–पश्चिम में रमणीय प्रदेश किंपुरुष–वर्ष है। भारतवर्ष के पूर्वी सीमावर्ती क्षेत्रों में रहने वाले लोग इसीलिए किरात कहलाते हैं, उसके पश्चिमी प्रदेशों के वासी यवन कहलाते हैं, उत्तरी सीमा–क्षेत्रों के

निवासी तुर्क कहलाते हैं और आन्ध्र कहलाने वाले लोग दक्षिणी सीमा क्षेत्रों में निवास करते हैं।"[1] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि न केवल विदेशी विद्वानों ने सिंधु नदी के इस पार रहने वाले निवासियों की पहचान भौगोलिक क्षेत्र द्वारा की, अपितु यह भी कहा जा सकता है कि सिंधु नदी के इस पार रहने वाले लोगों ने भी अपने भौगोलिक क्षेत्र को अपनी पहचान की कसौटी बनाया। उन्होंने कभी भी अपनी पहचान का मानदण्ड अपने धर्म अथवा अपने धार्मिक अनुष्ठानों को नहीं बनाया।

भारतीय अपने इतिहास एवं अपनी वंशावली को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं जितना कि कोई भी अन्य सभ्यता। भारतीय अध्ययनवेत्ताओं का यह कहना है कि भारतीय अपने इतिहास और वंशावली के प्रति साधरणतः उदासीन हैं क्योंकि वे इस जगत् और जीवन को माया अथवा मिथ्या मानते हैं। के. सच्चिदानन्द मूर्ति[2] इसका खण्डन भागवत, हरिवंश पुराण और महाभारत के संदर्भों के साथ–साथ कल्हण की राजतरंगिणी, बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ महावंश और भारतीय–तिब्बती परंपरा के ग्रन्थ मंजुश्रीमूलकल्प के उदाहरणों से करते हैं। ये सभी ग्रन्थ प्रतिस्थापित करते हैं कि भारतीय अपने इतिहास एवं वंशावली के प्रति सजग थे। सगे–संबंधी की मृत्यु के उपरांत अस्थि–विसर्जन या तर्पण के समय अपने कुल–पुरोहित के पास रखे अपने वंश के बही–खातों में मृत्यु दर्ज कराने और अपने कुल/परिवार में हुए नये जातकों के नामों को कुल में सम्मिलित कराने की प्रचलित परंपरा भी यह दर्शाती है कि भारतीयों की अपने इतिहास एवं वंशावली के बारे में जानने की उत्सुकता चिरकाल से चली आ रही है। मूर्ति का कहना है कि "शतपथब्राह्मण (XII, 4.3) में भी इतिहास को शास्त्रों के बराबर माना गया है। कौटिल्य भी इतिहास को सम्मान की दृष्टि से देखते थे।"[3] वाचिक परंपरा और प्राचीनता के कारण "इतिहास को काव्यात्मक और रूमानी रूप दिया गया। किन्तु काव्यात्मक रूप में प्रस्तुति के कारण वह गद्यात्मक इतिहास से अलग नहीं हो जाता और न ही उसकी प्रामाणिकता पर इससे कोई असर पड़ता है।"[4] पौराणिक राजाओं के समान बाईबल में दिए गए विवरणों के अनुसार आदम, सेठ, ईनोस भी 800 वर्षों तक जीवित रहे। ऐतिहासिक पुरुष यीशुमसीह की खोज भी उतनी ही दुरूह है जितनी ऐतिहासिक पुरुष कृष्ण की। ग्रीस और रोम के इतिहास का वर्णन परीकथाओं और मिथकों से भरा पड़ा है।"[5] अतः भारतीय अपने इतिहास के प्रति सजग

रहे हैं और जब वे अपने दैनंदिन जीवन को माया अथवा मिथ्या कहते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं होता कि दैनंदिन जीवन कोई मृगमरीचिका अथवा कोई भ्रम है, बल्कि इस कथन का अर्थ होता है कि जीवन सदैव, क्षण–प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, वह क्षणभंगुर है। सच तो यह है कि "किसी भी हिन्दू ग्रन्थ में कोई भी ऐसा अनुच्छेद या उद्धरण नहीं मिलता जो मानवीय जीवन को निरर्थक मानता हो और इस संसार में जो हम सोचते हैं और जो कर्म हम करते हैं उसे महत्त्वहीन मानता हो। कोई भी हिन्दू आगम ग्रन्थ यह नहीं सिखाता कि हमारा जन्म व्यर्थ है और हमारा जीवन निरर्थक है और उसका कोई उद्देश्य नहीं है। भारतीय दर्शन का मूल आधार, उसकी पूर्वमान्यता ही यह है कि जीवन मूल्यवान है, वह सारहीन नहीं है और संसार का एक निश्चित उद्देश्य है।"[6] क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, किन बातों से बचना चाहिए और किन बातों पर मनन–चिन्तन करना चाहिए, इन प्रश्नों के निर्धरण में किसी समाज, राज्य और राष्ट्र के इतिहास की भूमिका नगण्य होती है। अपने उद्देश्यों और मूल्यों के चयन में एवं उन्हें प्राप्त करने में या उनके अनुसार जीवन यापन करने में भी केवल इतिहास की भूमिका नहीं होती। व्यक्ति, समाज, राज्य और राष्ट्र की 'सर्वव्यापी प्रगति की ओर ले जाने वाले' 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' में भी इतिहास का कोई महत्त्व नहीं होता। सर्वव्यापी प्रगति की संभावना केवल तभी होती है जब समाज अपनी परंपरा और संस्कृति को ही अपना आधार मानने लगता है। भारतीय मानस इस बात को बहुत पहले समझ गया था, और इसीलिए 'भारतीयता' की परिभाषा में उन्होंने इतिहास और भूगोल को कोई विशेष मान्यता नहीं दी। उन्होंने भारतीयता की परिभाषा में संस्कृति और परंपरा को ही सर्वोपरि माना।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भारतीयता' की परिभाषा किसी एक आधार पर नहीं की जा सकती। यह प्रत्यय तो, विट्गेन्स्टाइन के शब्द लें तो, एक 'पारिवारिक सादृश्य' जैसा प्रत्यय है। यह हमारे मन–मस्तिष्क पर कोई विशिष्ट अनन्य छाप नहीं छोड़ता। अमर्त्य सेन[7] भी इस बात से सहमत हैं। वे कहते हैं कि भारतीयता की परिभाषा करते समय "हमें दो आधारहीन किन्तु अकसर उद्धृत इन पूर्वमान्यताओं से बचना होगा : पहली पूर्वमान्यता यह है कि हमारी पहचान की केवल एक या कोई मुख्य कसौटी होनी चाहिए। और दूसरी पूर्वमान्यता यह है कि हमें अपनी

पहचान की 'खोज' ऐसे तथ्यों में करनी चाहिए जिनमें चयन के लिए कोई स्थान ही न हो।'' अतः, ''भारतीयता क्या है?'' इस प्रश्न का उत्तर हमें यह देख कर करना होगा कि ''भारतीयता'' शब्द का प्रयोग हम कैसे करते हैं। 'भारतीय मूल्य क्या हैं? अथवा 'भारतीय संस्कृति और परंपरा क्या है? इन प्रश्नों का भी कोई सीध–सपाट या अन्तिम उत्तर नहीं दिया जा सकता। भारतीय संस्कृति निरन्तर, बिना किसी व्यवधान के विकसित होती रही है। यह कोई पाषाण वस्तु नहीं है जो अपनी अन्तिम अवस्था में पहुँच चुकी है। यह एक जीवन्त परंपरा है। अपने दैनंदिन रहन--सहन में, इसके पालन में, हम इसकी रचना अपितु पुनःरचना करते रहते हैं। हम इसके कुछ भागों को छोड़ देते हैं और कुछ को बचाए रखते हैं। जिन चीजों को हम छोड़ देते हैं, उनकी जगह हम कोई समकालीन, कोई नवीन बात जोड़ देते हैं। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति न तो जीवाश्म जैसी कोई पौराणिक वस्तु है जो पाषाण कलाकृति हो जिसे संग्रहालय में सजाया जाए और न ही मृतप्राय कुछ है। यह सदैव नूतनता की ओर अग्रसर है, इसमें पौराणिक और अधुनातन का सम्मिश्रण निरंतर होता रहता है। विशुद्ध आर्य संस्कृति, परंपरा और मूल्य एक मिथक है। मिथक की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी जा सकती है : ''एक ऐसी कथा जिसे बावजूद अनेक वैध प्रमाणों के कि वह असत्य है अधिकतर लोग एक लंबी अवधि से सत्य मानते हैं।''[8]

सन् 1931 में महात्मा गाँधी ने उपरोक्त को मानते हुए कहा था कि ''भारतीय संस्कृति न तो पूर्णतः हिन्दू है, न ही मुसलिम, न ही कोई अन्य। वह तो पूर्व की सभी संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। भारतीय कहलाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इस संस्कृति का आदर करना चाहिए, उसका न्यासी होना चाहिए और उस पर किए गए किसी भी आक्रमण से उसका बचाव करना चाहिए।''[9] मूर्ति इसी बात को अधिक स्पष्ट रूप से यह कहते हुए व्याख्यायित करते हैं कि भारतीयता में केवल हिन्दू संस्कृति ही निहित नहीं है अपितु इस के ''निर्माण में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा, वेदकालीन आर्यों और इन सबकी सन्तानों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।'' हिन्दुओं के अलावा इसकी निर्मिति में चार्वाकों, बौद्धों, जैनों, सिखों और अनेक जनजातीय परंपराओं के साथ–साथ ईसाईयों, पारसियों, मुसलमानों और बहाइयों के योगदान को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीयता में उन सभी की संस्कृतियां सम्मिलित हैं जिन्होंने भारत को अपना–निवास स्थान

बनाया। इस युक्ति में कोई दम नहीं है कि उनका उद्‌भव भारतवर्ष से अन्य भूमि पर हुआ था क्योंकि इसी युक्ति के आधर पर हमें यह भी मानना होगा कि 'वैदिक धर्म' भी विदेशी है क्योंकि वह भी तो 'मध्य एशिया क्षेत्रों' से भारवर्ष में आया।

उपरोक्त चर्चा से हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि 'भारतीयता' का कोई विशिष्ट गुण नहीं है। 'भारतीयता' के सूक्ष्म निरीक्षण पर हम पाते हैं कि वह अनेक मूल्य–समूहों का सम्मिश्रण है। परिवेश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार इस सम्मिश्रण में मूल्य–समूहों का अनुपात बदल जाता है। भारतीय संस्कृति को अनुपम बनाने वाले गुण हैं:

1. बहुलवाद अथवा सर्वसमावेशवाद के प्रति वचनबद्धता,
2. पुरूषार्थों – जीवन आदर्शों के प्रति कटिबद्धता,
3. अभय, असंग और अहिंसा में अटूट विश्वास वाली मनोवृत्ति,
4. कर्म के सिद्धान्त में अटूट विश्वास,
5. पुनर्जन्म में अटूट विश्वास,

इन मूल्यों को 'भारतीयता' के मूल मूल्य कहा जा सकता है। ये मूल्य किसी अन्य संस्कृति में नहीं पाए जाते। किसी अन्य संस्कृति के सार–तत्त्व (essence) के रूप में इन मूल्यों का उल्लेख नहीं मिलता।

यहाँ यह कहना उचित होगा कि जहाँ मुगल सम्राट बाबर पुनर्जन्म को भारतीयता का मुख्य गुण मानते हैं, वहीं लगभग सभी अन्य विचारक सर्वसमावेशवाद (inclusivism) को भारतीयता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण मानते हैं। गाँधी जी के अनुसार, "यदि मैं हिन्दू मत को ठीक प्रकार जानता हूँ तो मैं कह सकता हूँ कि वह अनिवार्यतः सर्वसमावेशवादी है और सदैव प्रगतिशील और प्रतिक्रियाशील है। यह कल्पना, मुक्त चिन्तन और तर्क को ऊँची उड़ान भरने का अवसर देता है।"[10] हिन्दू मत में बहुलवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इस बात का पता हमें इस तथ्य से चलता है कि इसमें आप अनेक हो सकते हैं या फिर कोई एक। आप एक साथ एक मुसलमान, एक अच्छे केरल निवासी और एक अच्छे भारतीय हो सकते हैं।"[11]

भविष्यपुराण के प्रतिसर्गपर्व (भाग 1, 161) में म्लेच्छों की वंशावली, उनकी भाषा और धार्मिक रीति–रिवाजों का वर्णन हिन्दू मत के सर्वसमावेशवादी होने का सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। इस वर्णन में कहा गया है कि भगवान विष्णु के आदेशानुसार आदम और ईव (हव्वा) शहर के पूर्वी भाग

में स्थित चार कोस के उद्यान में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विचरते थे। यह उद्यान उनके रहने के लिए भगवान विष्णु ने ही दिया था। आदम और हव्वा सदैव विष्णु भगवान का ध्यान करते थे। किन्तु एक दिन कलियुग ने एक सर्प के रूप में आकर हव्वा को सेव खाने को ललचाया। सेव खाना भगवान विष्णु के आदेशों का उल्लंघन था। समयोपरांत आदम और हव्वा के समागम से अनेक पुत्र पैदा हुए। उन्हें और उनकी संतति को म्लेच्छ कहते हैं। म्लेच्छों का कर्तव्य ''भगवान विष्णु और अग्नि की पूजा करना है, अहिंसापूर्वक तप करते हुए ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना है। आदम और हव्वा की संतति म्लेच्छों की वंशावली इस प्रकार हैः श्वेत, अनूह, कीनाश, विरद, हनूक, मतोच्छिल, लोमाक, न्यूह, सीम, हम, याकुतद्ध और तथावत। भविष्यपुराण आगे कहता है कि ''म्लेच्छों के प्रमुख प्रचारक का नाम मूष है और उसी के कारण उनके धर्म का प्रचार–प्रसार हुआ है।'' ब्राह्मी लिपि के उद्भव के बारे में भी यह कहा गया है कि, ''दाएँ से बाएँ की ओर लिखे जाने वाली भाषा का आविष्कार न्यूह ;आदम और हव्वा की एक संतति ने भगवान विष्णु की प्रेरणा से किया था।'' भविष्यपुराण के अनुसार म्लेच्छ–भाषा के लगभग चार लाख रूप हैं। यवनी और गुरुन्डिका (इंगलिश) इसके दो मुख्य रूप हैं।'' यहाँ आगे यह कहा गया है कि ''जिस प्रकार प्राकृत भाषा में 'पानीय' शब्द को 'पानी' कहा जाता है और बुभुक्ष' शब्द को 'भूख' कहा जाता है उसी प्रकार इंगलिश भाषा में 'पितृ' शब्द को 'पेटर–फादर' कहा जाता है, 'भ्रातः' शब्द को 'बादर–ब्रदर' कहा जाता है। इसी प्रकार 'आहुति' शब्द को 'आजु', 'जानु' शब्द को 'जैनु', 'रविवार' को 'सण्डे', 'फाल्गुन' शब्द को 'फरवरी' और 'षष्ठी' शब्द को 'सिक्सटी' कहा जाता है।

भारत निश्चित रूप से वह पहला राष्ट्र था जिसे 'पर', या 'अन्य' लोगों का सामना करना पड़ा। ये 'अन्य' लोग बौद्ध, जैन और अनेक दूसरे पंथों से संबंधित थे। समय के साथ–साथ उसे यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों और अन्य अनेक छुटपुट पंथों का सामना भी करना पड़ा। जबकि बौद्ध, जैन और उनके अन्य पंथों का उद्गम स्थल–भारतवर्ष की भूमि ही था, यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्मों का उद्गम भारतवर्ष के बाहर का था। अन्य धर्मों के प्रति भारतवासियों की मनोवृत्ति या तो उन्हें जस के तस अपनाने की या फिर उनमें कुछ फेर–बदल करके उन्हें अपना ही परिवर्तित रूप मानने की थी। वह ऐसा तीन प्रकार की पद्धतियाँ अपना कर कर सकी। ये

पद्धतियाँ हैः मौन रखना, तर्क देना, और मिथक बनाना। ''पहली तकनीक है अन्य धर्मों के प्रति मौन रहना। दूसरी और तीसरी तकनीक है अन्य ध्र्मों को बुरी लगने वाली बातों का दार्शनिक एवं मिथकीय वर्णन करना। उदाहरणार्थ, तर्क पर आधरित युक्ति तत्कालीन परिवेश से उन बातों को, उन युक्तियों को अलग कर देती है। तर्क की विशेषता ही यह है कि उस पर आधारित युक्ति को बिना किन्हीं व्यक्तिगत कारणों के सत्य सिद्ध किया जा सकता है। उससे किसी भी बात का खण्डन या मण्डन एक वस्तुगत ढंग से किया जाता है। इसी प्रकार देवताओं और राक्षसों की कहानियों की सहायता से, बिना अन्य धर्मों की प्रस्थापनाओं को दोष दिए, अपनी बात को सत्यतापूर्ण कहा जा सकता है और अपने मत को बनाए रखा जा सकता है।''[12] ये पद्धतियाँ अपनाने के साथ–साथ हिन्दुओं, जैनों और बौद्धों ने सत्य के किसी ऐकान्तिक सिद्धान्त को नहीं अपनाया। हिन्दुओं ने स्पष्ट रूप से ''एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'' सिद्धान्त माना और 'अधिकार भेद' के अपने सिद्धान्त से नाना सत्य' होने की व्याख्या की। ज्रैनों ने अपने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद सिद्धान्तों द्वारा सत्य की नाना व्याख्याएँ होने को अपनाया। महायान बौद्धों ने 'उपाय–कौशल' के सिद्धान्त द्वारा सत्य के नाना रूप होने के सिद्धान्त की प्रस्थापना की। उपाय 'कौशल–सिद्धान्त' के अनुसार ''खोजकर्ता को अपने बौद्धिक सामर्थ्य के अनुसार ही सत्य का ज्ञान होता है।'' कालावधि में अन्य धर्मिक सिद्धान्तों से दूरी बनाए रखने की ये पद्धतियाँ भारतीयों के आचार–व्यवहार और सोच का एक अभिन्न अंग बन गयी हैं। इसी मनोवृत्ति के कारण वे नैसर्गिक रूप से अन्य धर्मों, मतों से टकराहट से दूर रहते हैं।

मूर्ति के अनुसार मध्य काल तक ''भारत में आकर बसने वाले विदेशियों ने यहाँ की संस्कृति से अपने योगदान की तुलना में कहीं अधिक सीखा।''[13] मध्यकाल के दौरान भारतवासियों का इस्लाम से आमना–सामना हुआ। इस्लाम में कुछ करने या फिर न करने के बारे में कठोर निर्देश हैं। इस्लाम अन्य धर्मावलंबियों को का फिर कहकर पुकारता है और उनके धर्म को जोर–जबरदस्ती परिवर्तित करने में विश्वास रखता है। इस्लाम के आने से भारतीय समाज और संस्कृति, जो अब तक 'अनुछुई' थी, ने पहली बार किसी विदेशी धर्म का सामना किया और उससे प्रभावित हुई। इस्लाम के आने से पहले, इतिहासकार डी.पी. सिंघल के अनुसार, ''भारत ने सभी विदेशी लोगों और ध्र्मों को अपने में आत्मसात् कर लिया था; इस्लाम ने भी,

जिन देशों में वह गया वहाँ की संस्कृतियों को अपने में आत्मसात् कर लिया था। किन्तु भारत में वह ऐसा न कर सका। यहाँ न तो उसने अपनी पहचान खोयी, न ही यहाँ की संस्कृति पर वह विजय पा सका; दोनों ने अपनी मूल पहचान रखते हुए भी एक दूसरे की अनेक बातों को अपना लिया।''[14] इस्लामी संस्कृति और धर्म ने हिन्दू मतावलंबियों को उनके अपने कई मतों एवं प्रस्थापनाओं पर पुनः विचार करने के लिए बाध्य कर दिया। इन मतों एवं प्रस्थापनाओं का मूल रूप परंपराओं, रूढ़िवादी चिन्तन एवं अंधविश्वासों के कारण बदल गया था। इस का लाभ यह हुआ कि हिन्दू मतावलंबी अपनी जीवन– शैली को अपने नए ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में देखने लगे और अपने ग्रन्थों की पवित्राता एवं शुद्धिकरण के प्रति पुनः सजग हो गए। इस प्रभाव के कारण दोनों सभ्यताओं और उनमें निहित मूल्यों में एक नया सामंजस्य स्थापित हो गया।''[15] इस सामंजस्य ने दोनों सभ्यताओं को नए मूल्य, नयी गंगा–जमुनी संस्कृति प्रदान की।

ऐतिहासिक रूप से भारतीय परंपरा में विदेशी या 'पर' या 'अन्य' को या तो तुर्क या यवन, या म्लेच्छ कहा गया है। म्लेच्छ का तात्पर्य सांस्कृतिक अन्य होता है, तुर्क का अर्थ नृजातीय (एथनिक) अन्य होता है, और यवन का अर्थ भौगोलिक अन्य होता है। 'अन्य' या 'पर' का प्रयोग जिस भी अर्थ में किया जाए, प्रायः सभी धर्मों का दूसरे धर्मों के प्रति या तो विद्वेषपूर्ण या फिर आतिथ्यपूर्ण रवैया रहता है। यद्यपि प्रारंभ में तो पराए समझे जाने वाले धर्म एवं उसके धर्मावलंबियों के प्रति सभी धर्मों का रवैया सिद्धान्ततः अतिथ्यपूर्ण रहता है, किन्तु वस्तुतः वह रवैया संशयपूर्ण रवैया होता है। वे सभी लोग जो बाईबल, कोरान या तोराह में विश्वास नहीं रखते उनकी दृष्टि में मूर्तिपूजक या का फिर हैं। साधरणतः ये धर्म अन्य धर्मों के प्रति द्वेष–दृष्टि रखते हैं, उनसे भयभीत रहते हैं, और उनकी रुचि विधर्मियों को बहला–फुसला कर, या जोर–जबरदस्ती से अन्य मतावलंबियों का धर्मपरिवर्तन कराने में होती है। यही कारण है कि सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में धर्मपरिवर्तन कराने का एक मुख्य स्थान होता है, एक विधि होती है।

लेकिन हिन्दू–धर्म में ऐसा नहीं है। साधरणतः हिन्दू धर्म में धर्मपरिवर्तन का सिद्धान्त ही नहीं है। या तो आप जन्म से हिन्दू होते हैं या फिर नहीं। कोई भी ऐसा ढंग या कर्मकाण्ड नहीं है जिससे आप किसी अन्य

धर्म से परिवर्तित होकर हिन्दू बन सकें। यद्यपि हिन्दू धर्म को छोड़ कर किसी भी अन्य धर्म को अपनाने की स्वतंत्राता हिन्दू धर्म में है। स्वामी दयानंद द्वारा अपनायी गयी शुद्धिकरण पद्धति उन्हीं लोगों पर लागू होती है जिन्होंने किसी कारणवश हिन्दू धर्म का त्याग करके कोई अन्य धर्म अपना लिया था। केवल वे ही शुद्धिकरण की प्रक्रिया अपना कर हिन्दू–धर्म में घर–वापसी कर सकते हैं। इसी कारण और उपरोक्त अन्य कारणों से हिन्दू–धर्म संसार के अन्य धर्मावलंबियों के लिए एक रहस्यमयी पहेली बन गया है। अन्य धर्मावलंबियों को हिन्दू–धर्म इसलिए भी रहस्यमय लगता है कि अन्य सभी धर्मों के विपरीत हिन्दू धर्म में यह मत एक प्रदत्त के रूप में स्वीकृत है कि "अनेक धार्मिक पंथ हो सकते हैं, ये पंथ कभी तो परस्पर और किसी विशेष अन्य धर्म के प्रति संवदेनशील होते हैं, कभी उदासीन और कभी प्रतिकूल।" किसी एक धार्मिक परंपरा में भी अनेक पंथ हो सकते हैं। यह भी माना जाता है कि धर्म में एक या अनेक सत्ताओं की अनेक श्रुतियां हो सकती हैं।"[16]

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ भारतीय समाज प्रारंभ से ही एक मिश्रित समाज रहा है। उसमें न केवल अनेक धर्म और भाषाएँ रही हैं अपितु उसमें अनेक जीवन–शैलियां, जीवन–मूल्य और जीने की कलाएं एक साथ रही हैं। भारत में धार्मिक बहुलवाद और सांस्कृतिक मेल–जोल इसलिए रह पाया क्योंकि इसके न्यायप्रिय "शासक इस बात को आदि काल से ही बखूवी समझ गए थे कि किसी भी बहु–धर्मवादी और अनेक जनजातियों वाली जनसंख्या वाले देश को अपनी समृद्धि एवं सम्पन्नता बनाए रखने के लिए सभी जनजातियों एवं धर्मों में सामंजस्य बनाए रखना चाहिए। ऐसा वे सभी धर्मों की आर्थिक सहायता करके और किसी को भी अपनी पसन्द के आधार पर राज्य की ओर से वरीयता न देकर कर पाए। यही कारण है कि भारत की अखण्डता बनी रही और यहाँ कोई धर्म–युद्ध नहीं हुए।"[17] इन शासकों ने सभी के कल्याण के लिए काम करके धार्मिक सहिष्णुता को बनाए रखा। उनका आदर्श लोकसंग्रह रहा।

आधुनिक भारत ने इसी सनातन प्रथा एवं नीति को अपनाते हुए धर्मनिरपेक्षवाद को चुना। इसकी धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्मविहीन समाज या नास्तिकता न होकर धार्मिक बहुलतावादी होना है।"[18] इसका अर्थ है "अनेक धर्मों का होना, किसी भी धर्म को राज्य की सहायता न दिया जाना और सभी धर्मों में सभी लोगों को ऐच्छिक भागीदारी के अवसर उपलब्ध होना। अतः

भारतीयता का संबंध न तो उपास्य ईश्वर के चयन से है और न ही उपासना–पद्धति से। भारतीयता तो सर्व–धर्म–समभाव के सिद्धान्त में निहित है। सर्वधर्मसमभाव वह मनोवृत्ति है जो यह मानती है कि सभी धर्म आदर–योग्य हैं और यह कि धर्म का संबंध मन और दिल से है न कि ईंटों और पत्थरों से। वह विशिष्ट दिशाओं से अथवा विशिष्ट स्थितियों से संबंधित नहीं है। उसमें विशिष्ट निर्देशों अथवा निषेधों का कोई स्थान नहीं है।

भारतीय संदर्भ में यह निरपेक्षतावादी मनोवृत्ति न केवल धार्मिक विषयों पर लागू होती है, अपितु वह भाषाई, क्षेत्रीय, जातीय एवं वर्ग संबंधी विषयों तथा राजनीतिक, सामाजिक और भौतिक अनेकता एवं बहुलता पर भी लागू होती है। पश्चिम में सांस्कृतिक बहुलता, नृजातीय बहुलता, धर्मिक बहुलता और भाषाई बहुलता वाले समाज में एकत्व का आदर्श या तो 'मेल्टिंग पॉट' है या फिर 'सलाद बॉउल' अथवा गुलदस्ते का मॉडल है। इनमें से पहले मॉडल में सभी वैयक्तिक विशिष्टताओं का विलयन होकर एक नयी विशिष्ट पहचान बनती है, जैसे कि किसी रासायनिक यौगिक में प्रत्येक विशिष्ट घटक अपनी पहचान खो देता है और एक नयी पहचान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के परिवर्तन में प्रत्येक विशिष्ट सामाजिक इकाई अपनी पहचान खो देती है। दूसरे प्रकार के मॉडल में गुलदस्ते या सलाद के समान प्रत्येक फूल या फल या सब्जी अपनी पहचान को बचाए रखने के बावजूद एक नयी प्रतीति उत्पन्न करती है। वे रासायनिक मिश्रण के समान हैं। इनमें से कोई भी उदाहरण अथवा प्रतिमान भारतीयता पर लागू नहीं होता। भारतीयता भोजन की थाली के समान है। थाली में विभिन्न प्रकार की तरकारियों आदि की कटोरियाँ होती हैं। प्रत्येक का स्वाद भिन्न होता है। यह जरूरी नहीं कि एक तरकारी दूसरी की पूरक या अनुषंगी हो किन्तु फिर भी वे सब एक ही थाली की भाग होती हैं और वे मिलकर भोजन को स्वादिष्ट और पाचक बनाती हैं। भारतीय अनेक पहचानों और विविध विषयों, व्यक्तियों या धर्मों में निष्ठा के आदी हैं। वे ऐसे भारत की संकल्पना के प्रति समर्पित हैं जिसमें सभी वैयक्तिक इकाइयों के लिए एक साझा स्थान हो।"[19]

इसी कारण भारतीय संस्कृति या भारतीय मनोवृत्ति में अन्य संस्कृतियों पर आक्रमण करने, उनपर विजय पाने या उन्हें नष्ट करने में कोई रुचि नहीं है। वे ऐसा करने से बचते हैं। यह संस्कृति विभिन्न जातियों, प्रजातियों, सामाजिक प्रथाओं, नियमों, धार्मिक पंथों और राजनैतिक संस्थाओं के

शांतिपूर्ण सहअस्तित्व को बढ़ावा देती है। वह अपने सदस्यों को अन्य संस्कृतियों से युद्ध करने से रोकती है। उसका उपनिवेशवाद में कोई विश्वास नहीं है क्योंकि वह अपने सदस्यों को यह नहीं सिखाती कि वे सारे विश्व पर युद्ध द्वारा, व्यापार द्वारा, या धर्मान्तरण द्वारा विजय पाएँ। इतनी लंबी अवधि तक निरंतर बने रहने का यही कारण है[20], बाकी अभी तलक है नामो निशां हमारा, और हमेशा रहेगा भी। सन् 1968 में नेशनल इंटीग्रेशन काउन्सिल द्वारा अपने घोषणा पत्र में इन्हीं उद्देश्यों को चुने जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि आधुनिक भारत में भी यही हमारे प्रिय मूल्य हैं, इन्हीं को हम श्रेय मानते हैं। इस घोषणा–पत्र में कहा गया है कि "हमारे राष्ट्रीय जीवन का आधार साझी नागरिकता, अनेकता में एकता, धर्म–स्वतंत्राता, धर्म–निरपेक्षता, समानता, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक न्याय और विभिन्न सम्प्रदायों में मैत्री एवं भाईचारा है। नेशनल इंटीग्रेशन काउन्सिल इन मूल्यों में अपनी निष्ठा दोहराती है और उनको पाने के लिए कटिबद्ध है।"

इन्हीं मूल्यों को रामधरी सिंह दिनकर ने अपनी कविता "किसको नमन करूँ मैं?" में इस प्रकार कहा है :–

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत स्वर तेरा है,
धर्मदीप हो जिसके भी कर में वह नर तेरा है।
तेरा है वह वीर सत्य पर जो अड़ने जाता है,
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है।

उनके अनुसार भारतीयता में ये गुण नहीं हैः –

वहाँ नहीं तू जहाँ जनों से ही मनुजों को भय है,
सब को सब से त्रास, सदा सब पर सब का संशय है।
जहाँ स्नेह के सहज स्रोत से हटे हुए जनगण हैं,
झंडों या नारों के नीचे बँटे हुए जनगण हैं।

भारतीयता का उनका आदर्श हैः –

तू तो है वह लोक जहाँ उन्मुक्त मनुज का मन है,
समरसता के लिए प्रवाहित शीत–स्निग्ध जीवन है।
वहाँ पहुँच मानते नहीं नर–नारी दिग्बन्धन को,
आत्म–रूप देखते प्रेम में भरकर निखिल भुवन को।

दर्शन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 67

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. वीतम मणि, पुराणिक एन्साइक्लोपिडिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2006, पृ. 123
2. देखें इण्डियन स्प्रिट, आन्ध्र युनिवर्सिटी प्रेस, 1965
3. वही, पृ. 53
4. वही, पृ. 54
5. वही, पृ. 53
6. वही, पृ. 57
7. द आरग्युमेंटेटिव इण्डियन, पेन्युइन बुक्स, नई दिल्ली, 2005, पृ. 350
8. वेंडि डोनिगर, द हिन्दूः ऐन आल्टरनेटिव हिस्ट्री, पेन्युइन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 22
9. यंग इण्डिया, 30.04.1931
10. संकलन, खण्ड 25, पृ. 350
11. शशि थरूर, द एलिपफेन्ट, द टाईगर एण्ड द सेलफोन, पेन्युइन, 2007
12. कैथरिन यंग, "जस्ट वार थ्यूरी साउथ एशियाः इण्डिक सक्सैस, श्री लंकन फेल्योर," अरविंद शर्मा (संपादक) द वर्ल्ड रिलिजियन्स ऑफ्टर सेपटेंबर 11, खण्ड 1, प्रेजर, वेस्टपोर्ट, 2009, पृ. 158
13. द इण्डियन स्प्रिट, पृ. 66–67
14. इण्डिया एण्ड द वर्ल्ड सिविलाइज़ेशन, खण्ड II, सिजविक एण्ड जैकसन, 1972, पृ. 158
15. डी.पी. सिंघल, ए हिस्ट्री ऑपफ द इण्डियन पीपल, पृ. 158
16. अरिविन्द शर्मा, द वर्ल्ड रिलिजियन्स आफ्टर सेपटेंबर 11, खण्ड III, पृ. 43
17. कैथरिन यंग, वही पृ. 56
18. शशि थरूर, वही पृ. 63
19. वही पृ. 62
20. विस्तृत व्याख्या के लिए देखें अशोक वोहरा, "मूर्ति से नोशन ऑफ कल्चरः एन एप्रेसल", द फिलॉसफी ऑफ के. सच्चिदानन्द मूर्ति, सं. शिबजीवन भट्टाचार्य और अशोक वोहरा, इण्डियन काउन्सिल ऑफ फिलॉसाफिकल रिसर्च, नई दिल्ली, 1995, पृ 254–273

कांट के दर्शन का तात्पर्य

आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

अनुवादक : मुकुंद लाठ

(मैंने अनुवाद में यथासंभव आचार्य की पदावली को यों का यों रखा है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि आचार्य ने पदावली को विशेष पारिभाषिक रूप दिया है। पदावली पारंपरिक दर्शन से प्रभावित है, इसलिये स्वीकृत कही जानी चाहिए, फिर यह भी है कि अपनी परिभाषाओं को कृष्णचन्द्र जी खोलते भी चलते हैं। इसलिये सावधान पाठक के लिये उनकी पदावली समस्या खड़ी करने वाली नहीं होनी चाहिये। आचार्य का प्रतिपादन भी बड़ा कसा–गठा है, उसके विचार–सूत्र अपनी बुनावट में निबिड परस्परभाव के साथ आपस में गझिन गुँथे हुए हैं। इसलिये भी उनकी पदावली के साथ छेड़ करना मैंने उचित नहीं समझा। फिर भी कहीं कहीं कोष्ठक में शब्द–विकल्प रखें हैं, जैसे 'वेदना के लिये 'भावना' जो हिंदी के अधिक अनुकूल जान पड़ सकता है। पर ऐसे शब्दांतर भी शब्द के पहले प्रयोग के साथ ही यदा–कदा दिये हैं, बार बार नहीं। इस निबंध के अनुवाद में यही मार्ग, मैं समझता हूँ, उचित है।)

सूचना

कांट के मत में निश्चयमात्र ही ज्ञान नहीं होता, ज्ञान–भिन्न निश्चय भी होता है। अन्य (ज्ञान–भिन्न) निश्चयों में 'यह ज्ञान है' ऐसा भ्रम होता है और निश्चय से भिन्न किसी किसी प्रत्यय में भी 'यह निश्चय है' ऐसा भ्रम होता है। ऐसे भ्रम को दूर करने के लिये निश्चय प्रत्यय की विस्तार से परीक्षा प्रयोजनीय है। कांट के दर्शन में निश्चय–परीक्षा पर विचार ही प्रधान है। इसीलिये इस दर्शन को परीक्षा–दर्शन (क्रिटिकल फिलॉसफी) का नाम दिया जाता है।

कांट ने अव्यक्त और व्यक्त इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों को निश्चय के अंतर्गत रखा है। साधारणतः व्यक्त पदार्थ के निश्चय को ही निश्चय कहा जा सकता है : ऐसे निश्चय की परीक्षा के भीतर से ही अव्यक्त

पदार्थ के निश्चय का प्रसंग उठता है। कांट के मत में वस्तु--विषयक निश्चय मूलतः दो प्रकार का होता है : ज्ञान–निश्चय और ज्ञानेतर निश्चय। वे प्रत्यक्ष–योग्य विषय के ज्ञान को ही साधारणतः ज्ञान कहते हैं। पर उन्होंने स्वाधीन--कृति--स्वरूप अविषय आत्मा के ज्ञान को भी स्वीकार किया है। उनके मत में ज्ञानेतर निश्चय भी दो प्रकार का होता है। एक प्रकार उसी कृत्यात्मक आत्मज्ञान के गर्भ में रहता है, दूसरा प्रकार कृति–निरपेक्ष वेदनात्मक (भावनात्मक) कल्पना से जन्म लेता है। कांट की निश्चय–परीक्षा ज्ञान–परीक्षा, कृति–परीक्षा और वेदना–परीक्षा, इन तीन भागों में विभक्त है। अपनी ज्ञान–परीक्षा में उन्होंने प्रधानतः विषय–ज्ञान पर विचार किया है। कृत्यात्मक आत्मज्ञान और तत्–सापेक्ष ज्ञानेतर निश्चय पर विचार कृति–परीक्षा पर लिखे ग्रंथ में हुआ है। वेदना--परीक्षा पर लिखे ग्रंथ में कल्पनाजन्य ज्ञानेतर निश्चय पर विचार किया गया है।

कृतिपरीक्षा या धर्मपरीक्षा

ज्ञानेतर निश्चय के बारे में, 'यह ज्ञान है', ऐसा जो भ्रम होता है, उसका मूल और उसके निरास का प्रयोजन कृति--परीक्षा से ही समझा जा सकता है।

कर्तृज्ञानात्मक कर्म को 'कृति' कहा जाता है। यहां 'कर्म' शब्द का अर्थ है, 'वह क्रिया जिसकी प्रतीति क्रिया–कल्पना के परिणाम–रूप में होती है।'। कर्ममात्र में कर्तृत्वज्ञान नहीं होता। 'मैं अपनी क्रिया–कल्पना को क्रिया में परिणत कर रहा हूँ, और इस परिणति का कारण मैं हूँ, ऐसे ज्ञान को कर्तृत्वज्ञान कहा जाता है। 'मैं कर्मकर रहा हूं, इस ज्ञान में, 'मैं क्यों कर रहा हूँ, अर्थात्, 'किस प्रयोजन से कर रहा हूँ, इस बात का ज्ञान रहता है। 'क्यों कर रहा हूँ, यह ज्ञान दो प्रकार का होता है। 'कर्म के अतिरिक्त इष्ठफल के लिये कर रहा हूँ, यह एक प्रकार का ज्ञान है। 'कर्म इष्ठ--साधन के लिये नहीं, अपने आप में इष्ठ है' यह दूसरे प्रकार का ज्ञान है। कर्म जिस इष्ट–बुद्धि या इष्टसाधन–बुद्धि से किया जा सकता है, उसे कर्म की प्रवर्तना कहा जाता है। कृति–प्रवर्तक इष्टसाधन–बुद्धि को फल–तंत्र प्रवर्तना कहा जा सकता है और कृति--प्रवर्तक इष्ट–बुद्धि को स्वतंत्र प्रवर्तना कहा जा सकता है। स्वतंत्र प्रवर्तना से की गई कृति स्वतंत्र कृति होती है। फल–तंत्र प्रवर्तना से की गई कृति को परतंत्र--कृति की आख्या दी जा सकती है। स्वतंत्र प्रवर्तना में यह स्फुट निषेध--प्रतीति रहती है कि 'यह कृति फल–तंत्र नहीं है'।

स्वतंत्र–कृति 'यह फल–तंत्र नहीं है' इस प्रतीति के बिना नहीं होती। लेकिन फल–तंत्र प्रवर्तना में स्वातंत्र्य–निषेध की स्फुट प्रतीति नहीं भी हो सकती है। फल–तंत्र प्रवर्तना में यह ज्ञान कि 'कृति परतंत्र है, फल–कामना कृति से अतिरिक्त पदार्थ है', यह ज्ञान स्वतंत्र–कृति की अपेक्षा रखता है। जिस कर्त्ता को स्वातंत्र्य–ज्ञान हुआ न हो, उसे यह ज्ञान भी नहीं होता कि 'फल–कामना कृति से अतिरिक्त पदार्थ है' : अर्थात् उसे यह ज्ञान नहीं होता कि 'काम आत्मा का पर या शत्रु है'। इस अर्थ में कर्त्ता के स्वातंत्र्य–ज्ञान और पारतंत्र्य–ज्ञान को परस्पर सापेक्ष कहा जा सकता है।

'कृति अपने आप में इष्ट है, इसलिये नहीं कि किसी इष्ट की साधन है', यह प्रतीति कर्त्तव्यता या विधि ज्ञान के बिना किसी दशा में नहीं होती। अगर कर्म केवल आनंद या लीला बुद्धि से संभव हो तो ऐसे कर्म को कर्त्तृत्वज्ञानात्मक कर्म या 'कृति' कहकर नहीं स्वीकारा जा सकता।' इस कर्म को मैं कर्त्तव्य समझकर कर रहा हूँ, फल–कामना–वर्जित विधिबुद्धि से कर रहा हूँ , यह प्रतीति कृति के अपने आप में इष्ट होने की प्रतीति है। कृति के दो प्रवर्तक माने जा सकते हैं : फलकामना और विधि–बुद्धि। विधि की वस्तुता को विधि–बुद्धि से अलग नहीं जाना जा सकता, इसलिये विधि को ही स्वतंत्र–कृति का प्रवर्तक कहा जा सकता है। पर फल का ज्ञान फल–कामना से अलग होता है, इसलिये परतंत्र कृति का प्रवर्तक फल को नहीं फल–कामना या काम को कहना चाहिये। विधि और काम इन दोनों को कृतिप्रवर्तक कहा जा सकता है।

विधि का निश्चय और स्वतंत्र्य–कृति का निश्चय, ये दोनों परस्पर–सापेक्ष हैं। कांट के मत में इन दोनों निश्चयों को ज्ञान कहा जा सकता है, एक ही ज्ञान के दो रूप कहिये, पर यह ज्ञान कृतितंत्र आत्मज्ञान है, कृति–निरपेक्ष विषय–ज्ञान नहीं। विधिपालन–रूप स्वतंत्र–कृति में ही कृत्यात्मक शुद्ध आत्मा का और विधि का युगपत् ज्ञान होता है। कांट के मत में कृति–निरपेक्ष आत्मा का ज्ञान नहीं होता। परतंत्र कृति में जिस आत्मा की प्रतीति होती है वह उस आत्मा का ज्ञान है जो काम से अभिन्न होती है, वह ज्ञान शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है। स्वतंत्र–कृति में ही कृति–स्वरूप शुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है। कृति का स्वातंत्र्य विधि–ज्ञान में ही होता है। परतंत्र–कृति में यह निषेध–ज्ञान तो हो सकता है कि 'यह विधि–प्रवर्तित नहीं है', पर इस निषेध–ज्ञान को विधि का ज्ञान नहीं कहा जा सकता। 'मैं

जो कर्म कर रहा हूँ, उसे कर्त्तव्य जान कर नहीं कर रहा', इस ज्ञान में कर्त्तव्यता का ज्ञान नहीं होता, वेदना–निश्चय मात्र होता है। आत्मा में जो पाप की या अशुद्धि की अनुभूति होती है –आत्मा के दण्ड या दुःख योग्य होने का जो वेदना–रूप पूर्वाभास होता है –वही वेदना–रूप पूर्वाभास इस औपचारिक ज्ञान के रूप में आभासित होता है कि विधि मानो लंघित हो रही है या उसका पालन नहीं हो रहा। शुद्ध आत्मा का ज्ञान या विधि–ज्ञान, यह विधि–पालन–रूप स्वतंत्र–कृति में ही होता है। इस आत्मा से आत्मज्ञान भिन्न नहीं है, आत्मज्ञान से विधिज्ञान भिन्न नहीं है, और विधिज्ञान से विधि भिन्न नहीं है। अतएव कहा जा सकता है कि कृत्यात्मक शुद्ध आत्मा से विधि का कोई भेद नहीं है।

कहा जा चुका है कि परतंत्र–कृति में अगर यह प्रतीति हो भी कि 'यह कृति विधि–प्रवर्तित नहीं है', तो भी यह प्रतीति विधिज्ञान नहीं होती। स्वतंत्र–कृति में यह प्रतीति अवश्यंभावी है कि 'यह कृति काम–प्रवर्तित नहीं है', और तब यह मानना पड़ता है कि काम–निषेध की प्रतीति प्रवर्तक–काम का ज्ञान होती है : विधि–स्वरूप आत्मा के ज्ञान में उस आत्मा का ज्ञान भी होता है जो काम से अभिन्न है। विधिपालन में उसी आत्मा के दोनों रूपों का ज्ञान होता है। एक ही आत्मा क्यों ऐसे दो रूपों में प्रकाशित होती है, यह हमारे बोध के परे है, किन्तु इस बात में कोई संशय का अवकाश नहीं कि विधि–पालन में ऐसा प्रकाश जागता है। विधि–स्वरूप आत्मा और काम–रूप आत्मा के भेदाभेद ज्ञान में यह अनुभव होता है कि आत्मा एक साथ ही शासित और शासिता है, आदिष्ट और आदेष्टा है।

विधि–पालन और स्वतंत्र–कृति, इनमें विधि ही प्रवर्तक होती है। हमारे जानते हुए विधि और काम इन दो प्रवर्तकों का मिश्रण नहीं हो सकता। पर किसी किसी स्थल पर 'विधि–प्रवर्तना में विधिज्ञान के साथ अनजाने में या प्रच्छन्न भाव से काम संश्लिष्ट हो गया है', इस बात का अनुमान किया जा सकता है। पर ऐसे प्रच्छन्न काम के रहते हुए भी कृति के स्वातंत्र्य का अपलाप नहीं होता। फिर भी यह नहीं का जा सकता कि इस बात से आत्मा में कोई अशुद्धि नहीं आती। यहाँ समस्या यह उठती है कि कृत्यात्मक आत्मा ही शुद्ध आत्मा है तो इसमें अशुद्धि की संभावना कैसे बनती है,

यहाँ कहा जा सकता है कि विधि और स्वतंत्र–कृति, ये वस्तु के रूप में एक होते हुए भी ज्ञेयता में भिन्न हैं। विधि शुद्ध आत्मा का स्वरूप है, अशुद्ध आत्मा या कामात्मा की तुलना में यह उपलब्धि होती है कि शुद्ध

आत्मा स्वतंत्र–कृति–स्वरूप है। काम–वर्जन की क्रिया से निरूपित जो शुद्ध आत्मा है वही स्वतंत्र–कृति के रूप में ज्ञेय होती है। तो, शुद्ध आत्मा की विधि–स्वरूपता के ज्ञान को शुद्ध ज्ञान और उसके स्वातंत्र्य–ज्ञान को मिश्र या कामापेक्ष ज्ञान कहा जा सकता है। एक ही शुद्धात्मा की ज्ञेयता के ये प्रकार हैं, यह स्वीकार करना पड़ता है। स्वातंत्र्य–ज्ञान में यह अनुभव जागता है कि आत्मा एक ही साथ शासिता भी है और शासित भी। यह अनुभूति ज्ञान नहीं है, वेदना विशेष है। पर वेदना होते हुए भी यह अनुभूति सुख–दुःख रूप प्राकृत वेदना से नितांत भिन्न है। इस अप्राकृत वेदना का नाम है, आत्मसम्मान। आत्मसम्मान में शासित आत्मा अपने को भृत्य के रूप में अनुभव करती है और शासक आत्मा अपने को प्रभु के रूप में। भृत्यभाव का अर्थ है निरभिमानत्व। प्रभुभाव का अर्थ अभिमान नहीं है, आत्मप्रसाद है। निरभिमान आत्मप्रसाद का ही नाम आत्मसम्मान है।

यों, स्वतंत्र–कृति में शुद्धात्मा का ज्ञान आत्मसम्मान–रूपी वेदना के साथ संश्लिष्ट रहता है; इसलिये विधिज्ञान–रूप आत्मा के शुद्ध ज्ञान की अपेक्षा से स्वतंत्र–आत्मा के ज्ञान को मिश्र ज्ञान कहा जा सकता है। पर ज्ञान के रूप में मिश्र ज्ञान को अशुद्ध या दोष–युक्त नहीं का जा सकता, क्योंकि आत्मसम्मान–रूप वेदना कृति–प्रवर्तक काम की तरह शुद्धात्मा की पर या शत्रु नहीं है। पर यह भी नहीं कह सकते कि ये वेदना स्वतंत्र–कृति की प्रवर्तक होती है। स्वतंत्र–कृति की प्रवर्तक विधि है –या विधिज्ञान। आत्मसम्मान के लिये यही कहना ठीक है कि वह स्वतंत्र–कृति के साथ ही जागता आत्मप्रसाद है, या ऐसी कृति का अप्राकृत परिणाम है। यों कृति और वेदना में जो भेदाभेद बनता है, उसी के कारण यह आभास होता है कि यह वेदना मानो कृति–प्रवर्तक है। तो, स्वातंत्र्य–प्रत्यय में काम–वर्जन रूप जो कामापेक्षा रहती है, वह अशुद्धि न सही, पर उसे अशुद्धि का बीज या अवकाश कहा जा सकता है। इस अवकाश में जब आत्मसम्मान–रूप वेदना रहती है तब अशुद्धि का बीज अंकुर नहीं पकड़ता, उल्टे बीज की शक्ति क्षीण होती रहती है। आत्मसम्मान ही स्वातंत्र्य की यथार्थ अनुभूति है, पर स्वातंत्र्य की अयथार्थ या प्रतिकूल अनुभूति भी होती है। ऊपर कहा गया है कि आत्मसम्मान के दो रूप हैं : निरभिमानत्व और आत्मप्रसाद। स्वातंत्र्य की अयथार्थ अनुभूति के दो रूप जाने जाते हैं : स्वातंत्र्याभिमान और स्वातंत्र्यविलास। कांट के मत में स्वतंत्र–कृति या विधि का पालन ही धर्म है। यों, इन दो

अनुभूतियों के ये दो नाम दिये जा सकते हैं : धर्माभिमान और धर्मविलास। अब, यह ठीक है कि इन दो के रहने पर कृति के स्वातंत्र्य का लोप नहीं होता, पर इनसे आत्मा का अशुद्धि--बीज अशुद्धि के रूप में व्यक्त हो पाता है। इस अशुद्धि के कारण ही स्वतंत्र–कृति में विधि--प्रवर्तना के साथ प्रच्छन्न भाव से काम–प्रवर्तना संश्लिष्ट हो जाती है। यों आत्मा में व्यक्त होती अशुद्धि को काम या अधर्म का सूक्ष्मरूप कहा जा सकता है।

आत्मसम्मान–रूपी स्वातंत्र्य–अनुभूति में ही धर्माभिमान और धर्मविलास, ये स्वातंत्र्य की प्रतिकूल अनुभूति और आत्मा की अशुद्धि के रूप में व्यक्त होते हैं। हम कह चुके हैं कि ज्ञानेतर निश्चय में यह भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है'। स्वातंत्र्य की यथार्थ अनुभूति में यह समझ जागती है कि स्वातंत्र्य की अयथार्थ अनुभूति ही इस भ्रम की जड़ है, और यह भी कि इस भ्रम का निरास होना चाहिये। हम यह मान चुके हैं कि स्वातंत्र्य और विधि, इनका ज्ञान होता है। इस ज्ञान से संश्लिष्ट जो शुद्ध वेदना है उससे ज्ञानेतर निश्चय उद्भूत होता है, और उसमें यह प्रतीति भी होती है कि इस निश्चय के बारे में जो यह भ्रम है कि 'यह ज्ञान है', यह भ्रम अशुद्ध वेदना–प्रसूत है।

वेदना ही कल्पना का मूल है। शुद्धात्म–वेदना–प्रसूत कल्पना में निश्चय रूप लेता है। अन्य वेदना –प्रसूत कल्पना में कल्पित पदार्थ का निश्चय नहीं होता। निश्चयात्मक कल्पना को 'ध्यान' कहा जा सकता है। स्वतंत्र–कृति या धर्म की अनुभूति शुद्ध आत्मा की वेदना होती है। शुद्धात्म–वेदना कृति–निरपेक्ष भी हो सकती है, पर इस वेदना से जो ध्यान–निश्चय जन्म लेता है, उसके बारे में यह भ्रम नहीं होता कि 'यह ज्ञान है'; वह ज्ञान है या नहीं, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। पर धर्मानुभूति--जन्य ध्यान–निश्चय के बारे में यह भ्रम हो सकता है कि 'यही ज्ञान है'। इसलिये ध्यान–निश्चय का प्रसंग पहले ही उठता दिखता है। आत्मसम्मान–रूप धर्मानुभूति में ही यह स्फुट प्रतीति उद्भूत होती है कि ध्यान–निश्चय ज्ञान नहीं है, और यह भी कि उसके बारे में जो यह भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है', इस भ्रम का मूल धर्माभिमानादि--रूप अशुद्ध धर्मानुभूति में है।

विधिपालन–रूप स्वतंत्र–कृति को धर्म भी कह सकते हैं और धर्मज्ञान भी। तो, धर्म और धर्मज्ञान, ये दोनों एक ही पदार्थ हैं। पर धर्मज्ञान और धर्म–वेदना में भेदाभेद का बोध होता है। वेदना यहाँ ज्ञानात्मक होती

है, पर ज्ञान वेदनात्मक नहीं होता। यह जो वेदनाजन्य कल्पना रूप लेती है कि धर्म–वेदना धर्मज्ञानात्मक है, यह कल्पना अवस्तु–कल्पना नहीं है, निश्चयात्मक ध्यान है। यह निश्चय ज्ञान इसलिये नहीं कहला सकता क्योंकि ज्ञान यहां वेदनात्मक नहीं होता। आत्मज्ञान हमें धर्मज्ञान में ही होता है, धर्म–वेदना से आत्म–विषयक ध्यान–निश्चय होता है। धर्म–स्वरूप आत्मा निश्चयेन ज्ञेय वस्तु भी है और ध्येय वस्तु भी। पर आत्म–ज्ञान में आत्मा अविषय–भाव लिये प्रतीत होती है, जबकि आत्म–ध्यान में आत्मा विषय–भाव लिये प्रतीत होती है। धर्म की यथार्थ या अनुकूल वेदना में आत्मा की ज्ञेयता और ध्येयता के भेद की उपलब्धि होती है। पर धर्म की प्रतिकूल वेदना में यह भेदाभेद मिट जाता है, और यह भ्रम जागता है कि ध्येय आत्मा ज्ञेय अविषय है, अथवा यह कि ज्ञेय आत्मा ध्येय विषय है। भ्रम के इन दो रूपों को यथाक्रमेण धर्माभिमान और धर्म–विलास का आलंबन कहा जा सकता है।

'मैं विधि–पालन कर रहा हूँ,' इस निश्चय को हम 'ज्ञान' कह चुके हैं। पर यह निश्चय कि 'स्वतंत्र–कृति के द्वारा क्रिया या क्रिया–फल–रूप विषय साधा जाता है', यह ज्ञान नहीं कहला सकता –दूसरे शब्दों में, यह निश्चय कि 'अविषय आत्मा–अनात्म–परिणाम का कारण है', इस निश्चय को ज्ञान कहना ठीक नहीं। स्वतंत्र–कृति–रूप आत्मा की ज्ञेयता स्वीकार की जा सकती है, पर अनात्म–कार्य के स्वतंत्र कारण या कर्तृ–रूप आत्मा की केवल ध्येयता ही मानी जा सकती है। यह ठीक है कि अनात्म–कार्य का अनात्म–कारण ज्ञेय ही होता है, पर 'आत्मा इस कार्य का कारण है', इस बात का ज्ञानेतर निश्चय मात्र होता है, ज्ञान नहीं होता। हम कह चुके हैं कि स्वतंत्र–कृति में काम–वर्जन–रूपी कामापेक्षा रहती है। इस कामापेक्षा के कारण ही स्वातंत्र्य की वेदना में यह निश्चय उभरता है कि 'आत्मा की विषय–परिणाम के प्रति कारणता है'। पर अनुकूल वेदना में यह उपलब्धि होती है कि 'यह निश्चय ज्ञान नहीं है'। जबकि स्वातन्त्र्याभिमान में यह भ्रम होता है कि 'यह निश्चय ज्ञान है'। ज्ञेय अनात्म–कार्य का अनात्मकारण किसी और अनात्मकारण का कार्य होता है, अतएव यह मानना पड़ता है कि अनात्मकारण परतंत्र और अनादि है। आत्मा अनात्मकार्य की अन्यतर कारण है। क्योंकि यह आत्मा स्वतंत्र–कृति–रूप है इसलिये इसे स्वतंत्र कारण और आदि कारण कहा जा सकता है। धर्मानुभूति में अनात्मकार्य के स्वतंत्र और

परतंत्र, इन दोनों कारणों का युगपत् निश्चय होता है। पर धर्माभिमान में यह अभिमान होता है कि परतंत्र कारण की ही तरह मैं आत्मरूप स्वतंत्र कारण को भी विषय–भाव से जानता हूँ।

आत्मा की अप्राकृत स्वतंत्र–कारणता का पहला निश्चय प्राकृत कार्य की कारणता के प्रसंग में होता है। प्राकृत कार्य ऐसी कालिक घटना को कहा जाता है जो विषय–भाव से ज्ञेय होती है, दूसरे शब्दों में, ऐसे पदार्थ को जो काल–प्रवाह में उत्पन्न और स्थित होता है। पर यह निश्चय जागे कि अप्राकृत कारण भी होता है, तो अप्राकृत या कालातीत कार्य की कल्पना भी जन्म लेती है। अप्राकृत आत्मा जिस तरह कालिक घटना की कालातीत कारण है, आत्मा की पाप–पुण्य–रूपी अप्राकृत अवस्था की भी उसी तरह कारण है। आत्मा की इस कार्यावस्था को कांट ने उसका 'अप्राकृत स्वभाव या आत्मशरीर (Nomenal Charecter), इन शब्दों से निर्दिष्ट किया है। प्राकृत और अप्राकृत कार्य की अपेक्षा से आत्मा की स्वतंत्र कारणता को समझा जा सकता है।

यह ठीक है कि स्वतंत्र–कृति फलकामना द्वारा तो प्रवर्तित नहीं होती, पर आत्मा को श्रेयोरूप फल मिलता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसे फल का संधान उस बुद्धि में ही पाया जा सकता है जो फल–कामना का वर्जन करती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि श्रेयोबुद्धि धर्मबुद्धि–सापेक्ष है, पर धर्मबुद्धि श्रेयोबुद्धि–सापेक्ष नहीं है। परतंत्र–कृति से फल की कल्पना सकाम–कल्पना है। स्वतंत्र–कृति में भी फल–कामना रह सकती है, पर यह कल्पना निष्काम है। यहां फल काम का विषय या ईप्सित नहीं होता, उसकी कल्पना आत्मा के इष्ट या कल्याण के रूप में होती है।

स्वतंत्र–कृति या धर्म की वेदना से निष्काम फल की कल्पना उदित होती है। पर यह वेदना जहां अस्फुट हो वहां धर्म के फल की कल्पना उद्भूत नहीं होती। धर्म के फल को श्रेय या इष्ट या कल्याण कहा जा सकता है। धर्म में तो कल्याण–फल की भी कामना नहीं रहती, पर धर्म–वेदना में धर्म–फल की निष्काम कल्पना जागती है। परतंत्र–कृति में सुख–रूपी फल की सकाम कल्पना रहती है। यह सच है कि परतंत्र–कृति मात्र में आत्मा के अशुद्ध भाव की सूचना बनी रहती है, पर फिर भी यह संभव है कि ऐसी कृति अकर्त्तव्य–कृति या अधर्म न हो। पर अधर्म–रूपी परतंत्र–कृति में जो प्राकृत

सुख की सकाम कल्पना होती है, उसके बारे में यह प्रतीति जागती है कि यह सुख अनिष्ट या अकल्याणमय है। पर धर्म–रूपी स्वतंत्र–कृति की वेदना में प्राकृत सुख की निष्काम कल्पना भी रह सकती है। प्राकृत होते हुए भी 'यह सुख धर्म–वेदना के अविरूद्ध है, अर्थात्, इष्ट या कल्याणमय है', ऐसी उपलब्धि होती है। धर्मवेदना में दुःखरूपी प्राकृत फल की कल्पना भी रह सकती है। पर यह प्राकृत दुःख बस स्वतंत्र–कृति–जन्य क्रिया का फल होता है, उसके बारे में ऐसी कल्पना नहीं होती कि 'यह स्वतंत्र–कृति या धर्म का का फल है'। बल्कि, ऐसे में प्रतीति यही जागती है कि 'धर्म का फल तो पुण्य–रूपी आत्मा की अप्राकृत अवस्था या स्थिति ही है'। धर्म का फल सर्वत्र ही ऐसी पुण्य–रूपी आत्मस्थिति होता है। पर यहां यह भी कहा जा सकता है कि वह फल–रूपी सुख जो धर्म–वेदना के अनुकूल है, वह भी इष्ट है, और यों पुण्य और सुख इस उभय–संवलित धर्म–फल को ही आत्मा का पूर्ण कल्याण कहा जा सकता है।

पुण्य अप्राकृत कल्याण है, और सुख प्राकृत कल्याण। स्वतंत्रकृति द्वारा साक्षात् संपर्क से पुण्य साधित होता है : 'विधि का पालन करने वाला कर्त्ता ही अप्राकृत कल्याण–साधक कर्त्ता होता है', यह निश्चय अनुभव–सिद्ध है। पर ऐसा कोई अनुभव नहीं होता कि 'अप्राकृत कल्याण की तरह प्राकृत कल्याण भी विधि का पालन करने वाले कर्त्ता द्वारा साधित होता है'। 'ऐसा कोई कल्याण घटित हो रहा है' यह बोध भी सर्वत्र नहीं होता। अगर होता भी है तो इस निश्चय के साथ नहीं होता कि 'इसको साधने वाला कर्त्ता मैं हूँ। पुर्णकल्याण–रूपी धर्मफल अवश्यंभावी है। 'उस पुण्य का एकांश मेरा साध्य है, पर तत्–पुण्यानुरूप जो सुख–रूपी अपरांश है, वह मेरा साध्य नहीं है', यह निश्चयात्मक कल्पना जागती है और उसका उद्भूत धर्म–वेदना से होता है। हम कह चुके हैं कि धर्म–वेदना से आत्मा की स्वतंत्र–कारणता का ध्यान–निश्चय होता है। 'आत्मा की स्वतंत्रकारणता द्वारा पुण्य साध्य है, पर सुख साध्य नहीं, ये दोनों निश्चय, 'पूर्णकल्याण होता है', इसी निश्चय के अंतर्भूत हैं।

किसी भी कृति–जन्य पुण्य की अनुभूति में 'इससे भी अधिक पुण्य है' यह निश्चय समाया रहता है और उसकी साधक अन्य कृति की आकांक्षा भी समाई रहती है। और यों, अनंत कृति–संतति द्वारा साध्य निरतिशय पुण्य की निश्चयात्मक कल्पना जागती रहती है। अब, अनंत कृति–संतति की

कल्पना इस कल्पना की अपेक्षा रखती है कि काल अनंत है। अतएव, पुण्य की आत्मकर्तृत्व–साध्यता का निश्चय इस निश्चय को जन्म देता है कि जगत् अनंतकालात्मक है और आत्मकर्तृत्व–रूपी आत्मा अनंतकालव्यापी है : अमर है। 'पुण्य के अनुरूप सुख का होना अवश्यंभावी है, पर वह पुण्य–साधक आत्मा के कर्तृत्व द्वारा साध्य नहीं है', इस निश्चय से ऐसे ईश्वर के होने का ध्यान–निश्चय होता है जो कल्याण–सुख रूपी फल का दाता है। तो, कहा जा सकता है कि साधक आत्मा के अमरत्व का और सिद्ध–स्वरूप ईश्वर के होने का निश्चय, इस निश्चय के अंतर्भूत है कि 'पूर्णकल्याण होता हैं।

यों हम पाते हैं कि आत्मा की स्वतंत्र–कारणता, आत्मा का अमरत्व और ईश्वर का सिद्धान्त–या अस्तित्व–ये तीन अप्राकृत निश्चय धर्म–वेदना से जन्म लेते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि ये तीनों निश्चय इस निश्चय के प्रकारभेद हैं कि 'आत्मा अप्राकृत विषय है।' 'वह आत्मा जो स्वतंत्र–कृति–संतति–स्वरूप है, वह पूर्ण–कल्याण का ईश्वर–निमित्तता–सापेक्ष स्वतंत्र कारण है', यह निश्चय उसी आत्मा का निश्चय है जो कि अप्राकृत विषय के रूप में ध्येय है। ऊपर यह स्वीकार किया गया है कि विधि और स्वातंत्र्य इस उभयात्मक धर्म का ज्ञान होता है। यह ज्ञान आत्मा के अविषयत्व का ज्ञान भी है। धर्म की अनुकूल वेदना में यह उपलब्धि होती है कि 'अविषय आत्मा के ज्ञान–रूपी निश्चय में और अप्राकृत–विषय के रूप में कल्पित आत्मा के ध्यान–रूपी निश्चय में नितांत भेद हैं। धर्माभिमान–रूपी प्रतिकूल वेदना में यह भ्रम होता है कि 'यह ध्यान–निश्चय ज्ञान है'। 'मैं आत्मा की स्वर्ग–लाभ आदि अप्राकृत अवस्था का साधन कर रहा हूँ, यह कार्य–करण ज्ञान या उपाय–उपेय ज्ञान विषय–ज्ञान ही होता है। पर स्वतंत्र–कृति–रूपी आत्मा का जो ज्ञान होता है वह कृति–तंत्र ज्ञान होता है। इस ज्ञान की तुलना में विषय–ज्ञान को अकृतितंत्र या स्वतंत्र ज्ञान के नाम से निर्दिष्ट किया जा सकता है। 'मुझे विषय–ज्ञान की तरह ही स्वतंत्र आत्मज्ञान हो रहा है,', यह अभिमान धर्माभिमान की सूक्ष्म प्रकृति है।

'धर्म के अनुरूप अप्राकृत आत्मकल्याण हो कर रहेगा', ऐसे ध्यान–निश्चय को श्रद्धा कहा जा सकता है। 'मैं धर्म के द्वारा ऐसा कल्याण साध रहा हूँ, यह कर्तृत्वाभिमान ही धर्माभिमान है। श्रद्धा विधि के प्रति सम्मान का ही रूपांतर है –श्रद्धा इस सम्मान से अनुप्राणित रहती है। पर

'मैं धर्म का कल्याण–लाभ के लिये प्रयोग कर रहा हूँ', इस अभिमान में श्रद्धा नहीं होती। स्वतंत्र ज्ञान का ऐसा श्रद्धाविहीन अभिमान भी होता है कि 'उपाय का प्रयोग मेरा ही बल–प्रयोग है, मेरे ही विषय–ज्ञान–रूपी अस्त्र का संचालन है'।

धर्माभिमान के समान धर्म–विलास भी धर्म की प्रतिकूल वेदना है। विधि–पालन रूप कर्म में जो फल–निरपेक्ष आनंदबोध होता है, उसे धर्म–विलास नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि धर्म की अनुकूल वेदना में आत्मप्रसाद होता है, पर यह आत्मप्रसाद कर्तृ–रूपी आत्मा का सुखबोध नहीं होता, वह सुख–दुःख के अतीत अप्राकृत आत्मवेदना–स्वरूप होता है। 'मैं जो विधिरूप आत्मा हूँ, वह अपनी कामरूप आत्मा को सुशासित कर रहा हूँ', यह अनुभूति ही आत्मप्रसाद है। आत्मशासन की अनुभूति बिना जो आनंदबोध होता है, वह विलास है। क्रीडाकर्म को या नृत्यगीतादि–रूप रसक्रिया को कर्मविलास कहा जा सकता है। पर विधिपालन–रूपी कर्म में तत्–कर्तृ–रूपी आत्मा का साधक के लिये विलास संभव नहीं, हां, यह कल्पना की जा सकती है कि सिद्ध और देवताओं के लिये ऐसा विलास संभव है। कर्मविलास में कर्तृत्व–ज्ञान संभव नहीं –विलास का आलंबन–भूत कर्म कृति ही नहीं होता। साधक के लिये विधिपालन कृति विशेष होती है, अतएव साधक का धर्मविलास भ्रमात्मक ठहरता है। पर ऐसी भ्रम–वेदना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। सच यह है कि साधक को धर्म में जिस आनंद की प्रतीति होती है, उसके बारे में यह संशय ही रहता है कि 'यह सचमुच आनंद भी है क्या', धर्मविलास इस संशय–ग्रस्त आनंद का ही नाम है।

धर्माभिमान में आत्मा के ध्यान के बारे में यह भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है'। धर्मविलास में यह विपरीत भ्रम होता है कि 'आत्म का ज्ञान, ज्ञान नहीं ध्यान मात्र है'। ऐसी कल्पना भी होती है कि 'स्वतंत्र–कृति कृति ही नहीं है, क्रियामात्र है, ऐसी क्रिया जिसका विषय अप्राकृत है'। धर्माभिमान में आत्मा की प्रतीति जितनी स्फुट होती है, धर्मविलास में उतनी स्फुट नहीं होती। धर्मविलास में अनात्म–विषय की प्रतीति ही स्फुट होती है, धर्माभिमान में वह अस्फुट रहती है। धर्म की अनुकूल वेदना में आत्मा और अनात्मा दोनों की ही स्फुट प्रतीति रहती है, पर अनात्म की प्रतीति यहां अनात्म के हेयत्व की प्रतीति होती है। धर्माभिमान में आत्मा की प्रतीति के साथ गौण भाव से

अनात्म के मिथ्यात्व की भी प्रतीति रहती है। आत्मा की कारणता के आभिमानिक ज्ञान के साथ यह प्रत्यय भी गूढ भाव से जागता रहता है कि 'बात बस इतनी ही नहीं है कि मैं प्राकृत विषयों का वर्जन कर रहा हूँ, पर यह भी है कि ऐसा विषय स्वतंत्र–कारणता का प्रतिरोधक हो ही नहीं सकता'। धर्मविलास में अनात्म–विषय के ज्ञान के साथ कारणता–विहीन आत्मा का अस्फुट प्रत्यय भी रहता है, इस कारण विषय में आत्मच्छाया–रूपी आभास–पदार्थ का निश्चय भी होता है। ज्ञेय आत्मा को ध्येय समझना, धर्मविलास का यह सूक्ष्म आलंबन है, और यही आभास पदार्थ के निश्चय के रूप मे व्यक्त होता है। धर्माभिमान में आत्मा की कारणता का जो आभिमानिक ज्ञान होता है, धर्मविलास में उसकी जगह विषय की स्वतंत्र–कारणता का ज्ञानाभिमान होता है। आत्मा की स्वतंत्र–कारणता के निश्चय में ये तीन निश्चय अंतर्भुक्त होते हैं : आत्मा की स्वतंत्र स्थिति, पुण्य–फल के लिये की जाती अनंत–काल सापेक्ष कृति–संतति, और पूर्ण–कल्याण साधक ईश्वर की निमित्तता। ऐसे विषय की स्वतंत्र–कारणता के निश्चय में तत्–विषय की आत्मवत् स्वतंत्र स्थिति का होना, उसकी स्व–कल्याण–साधक स्वतंत्र क्रिया संतति का होना और जगत् का पूर्ण–कल्याण–मूर्त्ति होना या उसका ईश्वर–शरीर होना, ये निश्चय भी समोये रहते हैं। धर्म की अनुकूल वेदना में आत्म–विषयक ये तीन निश्चय श्रद्धात्मक ध्यान–निश्चय के रूप में प्रतिपन्न होते हैं, और तदनुरूप अनात्मक–विषयक निश्चय–त्रय की आनंदात्मक ध्यान–निश्चय के रूप में प्रतिपत्ति होती है। धर्माभिमान और धर्म–विलास रूपी प्रतिकूल वेदना में यह भ्रम होता है कि श्रद्धात्मक निश्चय और आनंदात्मक निश्चय, ये दोनों निश्चय नहीं ज्ञान हैं। धर्माभिमान में आनंदात्मक निश्चय का प्रत्याख्यान होता है और धर्मविलास में श्रद्धात्मक निश्चय का।

परन्तु अनुकूल–धर्म–वेदना में ये दोनों ही निश्चय अप्रत्याख्येय ज्ञानेतर निश्चय होते हैं। एक निश्चय के विषय में जो यह प्रतीति होती है कि 'यह ज्ञान है' और तज्जन्य दूसरे निश्चय में जो यह प्रतीति होती है कि 'यह प्रत्याख्येय है', यह प्रतीति भ्रांत होती है और बीजभूत धर्ममल और आत्मगत अशुद्धि की परिचायक है। अनुकूल धर्म–वेदना में यह अनुभूति जागती है कि 'धर्मरूप आत्मा की शुद्धि के लिये इस भ्रम का निरास प्रयोजनीय है'। इस धर्मवेदना में हमें जो ज्ञान और ध्यान के भेद की उपलब्धि होती है, वही इस भ्रम के निरास का उपाय है। विधि–पालन–रूपी धर्म में

आत्मा का एक प्रकार का ज्ञान होता है और अनात्मा का अन्य प्रकार का ज्ञान होता है। पर ज्ञान के इस प्रकार–भेद की उपलब्धि वहां नहीं होती। इस अविवेक के कारण ही आत्मा और अनात्मा के परस्परात्मकत्व की कल्पना संभव होती है। धर्म–वेदना–जन्य कल्पना निश्चय को जन्म देती है, अन्य किसी वेदना–जन्य कल्पना में निश्चय का स्थान नहीं होता। प्रतिकूल धर्म–वेदना में उदित होते निश्चय के बारे में भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है', पर अनुकूल धर्म–वेदना में यह उपलब्धि होती है कि 'यह निश्चय ज्ञान से भिन्न है'। आत्मा और अनात्मा के परस्परात्मकत्व का ज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु इसका निश्चय होता है, यह मानना पड़ेगा। 'यह ज्ञान नहीं है, पर कल्पना मात्र भी नहीं है', यह निर्देश आपात–विरुद्ध जान पड़ता है : जिस प्रतीत विषय का ज्ञान नहीं होता, उसका ग्रहण कल्पित–मात्र के रूप में होता है। साधारणतः ज्ञानेतर निश्चय को स्वीकार ही नहीं किया जाता। केवल धर्म में या धर्मज्ञान में ही ज्ञान–भिन्न ध्यान–निश्चय की बात प्रासंगिक होती है। यह ठीक है कि धर्म–निरपेक्ष रसानुभूति–जन्य ध्यान की भी संभावना बनती है, पर ऐसा ध्यान निश्चय रूप हो तो भी उस अनुभूति में (रसानुभूति में) वह निश्चय के रूप में प्रतीत नहीं होता, धर्म–वेदना में ही निश्चय निश्चय के रूप में प्रतीत होता है। अनुकूल धर्म–वेदना में धर्म–विलास के प्रतिकूलत्व का जो अनुभव होता है, उस अनुभव में ही धर्म–निरपेक्ष, अर्थात् स्वतंत्र रस–रूपी निश्चय का हमें पहला संधान मिलता है। धर्म–ज्ञान में यह ज्ञान होता है कि 'आत्मा विषय नहीं है, विषय से भिन्न है'। इसीलिये आत्मज्ञान चाहे विषय–ज्ञान की अपेक्षा करता भी हो, तो भी यह ज्ञान नहीं होता कि 'आत्मा विषय की अपेक्षा रखती है'। धर्म–वेदना में विषय–परिमाण के प्रति आत्मा की स्वतंत्र–कारणता का निश्चय होता है, विषय–कारणता को आत्मा पर विषय की छाया कहा जाता है। इसी तरह यह ध्यान–निश्चय जन्म लेता है कि 'आत्मा विषयात्मक है'। धर्म–वेदना में जिस आनन्दात्मक ध्यान या रसवेदना का संधान पाया जाता है, उसमें यह उपलब्धि रूप लेती है कि 'विषय पर आत्मा की छाया है, अर्थात्, आत्मा विषय से अभिन्न है'। इस तरह आत्मा और अनात्मा की परस्परात्मकता का ज्ञान–निश्चय नहीं होता, पर यह कहा जा सकता है कि ध्यान–निश्चय होता है।

रस–ध्यान में यह निश्चय होता है कि 'विषय आत्म–छाया–युक्त वस्तु है', और श्रद्धा–ध्यान में यह कि 'विषय आत्म–रूप वस्तु में निष्ठ छाया

है'। इसी तरह धर्म–वेदना में यह निश्चय होता है कि 'विषय छाया भी है और वस्तु भी है, अर्थात् सदसत् है'। धर्मज्ञान में विषयज्ञान की अपेक्षा बनी रहती है। और इसीलिये यह प्रतीति जागती रहती है कि 'विषयज्ञान धर्मज्ञान या आत्मज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, वह आत्मज्ञान की तरह कृत्यात्मक ज्ञान नहीं है, अपने आप में स्वतंत्र ज्ञान है'। हम विषयज्ञान को स्वीकार करें तो विषय की वस्तुता स्वतः स्वीकृत हो जाती है। धर्मज्ञान में ही यह ज्ञान रहता है कि 'विषय वस्तु है'। पर धर्म–वेदना में यह ज्ञानेतर निश्चय रहता है कि 'विषय छायात्मक या आभासात्मक वस्तु है'। तो, धर्मज्ञान में विषयज्ञान के स्वतंत्र–रूप में गृहीत होने के कारण, यह प्रसंग उठता है कि 'विषय की आभासात्मक वस्तुता का जो धर्मापेक्ष निश्चय है, वह स्वतंत्र विषयज्ञान के अविरूद्ध है या नहीं? ज्ञानविरुद्ध ध्याननिश्चय निश्चय नहीं, निश्चय का आभासमात्र होता है। स्वतंत्र विषयज्ञान विषय की वस्तुता मात्र का ज्ञान है, वह आभासात्मक वस्तुता का ज्ञान नहीं है। ऐसी किसी वस्तुता की ज्ञेय के रूप में कल्पना भी की जा सकती है या नहीं, यह संदेह की बात है। स्वतंत्र विषयज्ञान में ऐसा (आभासात्मक) वस्तुताज्ञान अस्फुट भाव से रहता है या नहीं, इसे समझने के लिये इसकी विषयज्ञान–पद्धति या प्रमाण द्वारा परीक्षा प्रयोजनीय है। धर्म–वेदना–सापेक्ष निश्चय अगर विषय–प्रमाण के विरुद्ध हो तो उसे भ्रम ही मानना होगा। अतएव धर्म–परीक्षा या कृति–परीक्षा से अगर विषय की आभासात्मक वस्तुता का निश्चय जागता भी है तो भी वह निश्चय भ्रम है या नहीं, इस बात का निर्णय करने के लिये धर्म–निरपेक्ष स्वतंत्र ज्ञान–परीक्षा प्रयोजनीय है। *क्रमशः .....*

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड,
जयपुर-302006

परोक्षापरोक्ष विभाग पर टिप्पणी

राजाराम शुक्ला

चिन्तन की किसी भी प्रणाली में यदि ज्ञान विषयक चर्चा की जाती है तो वह परोक्षता एवं अपरोक्षता की विवेचना के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ परोक्षता एवं अपरोक्षता का तात्पर्य विषयगत परोक्षता एवं अपरोक्षता से है। विषय यदि परोक्ष है तो उसका ज्ञान एवं उसे ग्रहण करने वाले प्रमाणों को भी क्रमशः परोक्ष ज्ञान एवं परोक्ष प्रमाण कहते हैं। वस्तुतः कोई भी ज्ञान स्वभावतः परोक्ष नहीं होता। उसमें परोक्षता का व्यवहार विषय की परोक्षता पर आश्रित होता है। अतः गौण है। ज्ञान मात्र ही मानस प्रत्यक्ष का विषय है। जब भी घट आदि विषय का किसी भी प्रकार से ज्ञान होता है तो घट के साथ घटज्ञान की भी प्रतीति होने लगती है– 'ज्ञातो मया घटः।'[1] इस विशेष प्रतीति को शास्त्रीय भाषा में अनुव्यवसाय कहा जाता है। यह एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष ही है। अतः उसका विषय व्यवसाय अपरोक्ष है। गुरू मतानुयायी मीमांसक त्रिपुटी प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार समस्त ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष में प्रमेय की तरह प्रमिति एवं प्रमाता भी विषय होते हैं। अतः इस पक्ष में प्रत्यक्ष ज्ञान की अपरोक्षता में कोई संशय ही नहीं रह जाता।

किन्तु ज्ञान की तरह प्रमाण मात्र को अपरोक्ष नहीं कहा जा सकता। कुछ प्रमाण परोक्ष होते हैं तथा कुछ अपरोक्ष। यहाँ रोचक तथ्य यह है कि परोक्ष का ग्राहक प्रमाण स्वयं में अपरोक्ष होता है एवं अपरोक्ष का ग्राहक परोक्ष। घट को ग्रहण करने वाला प्रमाण चक्षुरिन्द्रिय स्वयं में परोक्ष है।[2] इन्द्रिय की परोक्षता भी विशद विवेचना का विषय है। किन्तु इसके विपरीत परोक्ष को ग्रहण करने वाला अनुमान प्रमाण ज्ञानात्मक होने के कारण अपरोक्ष है।

विषय की परोक्षता भी दो प्रकार की है – (1) स्वाभाविक एवं (2) परिस्थितिजन्य। कुछ विषय स्वभावतः परोक्ष हैं – जैसे आकश, गुरूत्व[3] आदि। इनका किसी भी देश, काल या परिस्थिति में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किन्तु कुछ ऐसे विषय होते हैं जो स्वभावतः परोक्ष न होते हुए भी परिस्थिति विशेष के कारण परोक्ष होते हैं। जैसे – पर्वतस्थ वह्नि स्वभावतः परोक्ष नहीं

है। पर्वत पर जाकर उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है। किन्तु दूरता आदि विशेष अवस्था के कारण उस काल में परोक्ष होता है। इस प्रकार परोक्ष वस्तु भी दो भागों में विभक्त की जा सकती है– (1) सेन्द्रिय एवं (2) अतीन्द्रिय। परिस्थिति विशेष के कारण जो परोक्ष है वह वह स्वभावतः सेन्द्रिय है और जो स्वभावतः परोक्ष होता है वह स्वभावतः अतीन्द्रिय होता है। सेन्द्रिय एवं अतीन्द्रिय का तात्पर्य यहाँ इन्द्रिय ग्राह्य एवं इन्द्रिय अग्राह्य से है न कि इन्द्रिय–गृहीत एवं इन्द्रिय अगृहीत से। यह आवश्यक नहीं कि हर वस्तु गृहीत हो ही। ग्राह्य तब एक गृहीत नहीं होता जब तक उसके ग्रहण की समस्त सामग्री एकत्रित न हो और इसीलिए प्रत्येक ग्राह्य को गृहीत होने का अवसर मिल ही जाये ऐसा जरूरी नहीं है। हो सकता है कि गृहीत होने से पहले ही वह नष्ट हो जाए। ग्राह्यता स्वरूप योग्यता है और गृहीतता फलोपधायकता। प्रत्येक स्वरूपयोग्य का फलोपधायक होना अनिवार्य नहीं है। किन्तु यह सिद्धान्त नित्य के साथ लागू नहीं होता। नित्य यदि ग्राह्य है तो कभी न कभी अवश्यमेव गृहीत होगा।[4] समस्त सामग्री कभी न कभी तो अवश्य ही एकत्रित होगी। किन्तु कुछ लोग इस अवधारणा से सहमत नहीं हैं।[5] उनके अनुसार ग्राह्य नित्य का भी गृहीत होना अनिवार्य नहीं है। हो सकता है कि ग्रहण से पूर्व ही ग्राहक सामग्री पूर्णतः अथवा अंशतः नष्ट हो जाए और चूँकि इस क्रम में प्रलय तक की कल्पना सम्भव है तो दूसरे ग्राहक सामग्री की कल्पना भी उपयोगी सिद्ध नहीं होगी।

ग्राह्य और गृहीत के उपरोक्त सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में यदि हम अग्राह्य और अगृहीत का भी सम्बन्ध बनायें तो हमें प्रक्रिया में कुछ वैपरीत्य लाना होगा। जिस प्रकार सभी ग्राह्य गृहीत नहीं होते हैं उसी प्रकार "सभी अग्राह्य अगृहीत नहीं होते हैं" इस प्रकार की व्याप्ति दोष रहित नहीं हो सकती, क्योंकि सभी अग्राह्य नियमतः अगृहीत होते हैं। कोई भी ऐसी अग्राह्य वस्तु नहीं है जिसका ग्रहण होता हो। अतः हमें व्याप्ति की प्रक्रिया को बदलना होगा। उदाहरण के लिए जब हम यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः इस व्याप्ति को निषेधात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं तो यत्र यत्र धूमाभावः तत्र तत्र बह्न्यभावः न कह कर यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः (व्यतिरेक व्याप्ति) कहते हैं। उसी प्रकार अग्राह्यता और अगृहीता के सन्दर्भ में भी करना होगा। अग्राह्यता एवं अगृहीतता ग्राह्यता एवं गृहीतता का निषेधात्मक पक्ष है। अतः यहाँ इस प्रकार व्याप्ति बनायी जा सकती है–"सभी अगृहीत अग्राह्य

नहीं होते।'' परिस्थिति विशेष के कारण अगृहीत वस्तुग्राहक सामग्री के एकत्रित होने के पर गृहीत हो जाते हैं, अतः स्वभावतः अग्राह्य नहीं हैं। किन्तु कुछ ऐसी भी अगृहीत वस्तुएँ हैं जो स्वभावतः अग्राह्य हैं, यथा गुरूत्व आदि।

उक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि परोक्षता एवं अगृहीतता के बीच समव्याप्ति है। जो अगृहीत है वह परोक्ष है तथा जो परोक्ष है वह अगृहीत है। किन्तु अग्राह्यता और परोक्षता के बीच समव्याप्ति नहीं हो सकती। परोक्षता अग्राह्यता का व्यापक धर्म है। जो जो अग्राह्य है वह परोक्ष तो है ही किन्तु जो जो परोक्ष है वह अग्राह्य हो ही ऐसा आवश्यक नहीं है। पर्वतस्थ वह्नि परोक्ष होते हुए भी अग्राह्य नहीं है। गृहीतता एवं अपरोक्षता तथा ग्राह्यता एवं अपरोक्षता के मध्य भी ठीक ऐसा ही सम्बन्ध है। इस तरह हम गृहीत को अपरोक्ष एवं अगृहीत को परोक्ष कह सकते हैं।

किन्तु यदि हम इस विवेचना को और गम्भीरता से लें तो उक्त तथ्य तर्कपूर्ण होते हुए भी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होते हैं। परोक्षता अगृहीता का पर्यायवाची नहीं हो सकता। परोक्षता या अपरोक्षता का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में इन्द्रिय के साथ है। जबकि अगृहीतता का सम्बन्ध प्रमाण सामान्य से है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जो प्रत्यक्ष प्रमाण से अगृहीत है वह परोक्ष और जो प्रमाण मात्र से अगृहीत है वह केवल और केवल अगृहीत है। इस तरह परोक्षता की अपेक्षा अगृहीतता की सीमा अधिक विस्तृत है। प्रमाण सम्प्लव एवं प्रमाण व्यवस्था के विवाद में न पड़ते हुए यदि हम सामान्य विश्लेषण को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि अगृहीत ग्राहिता प्रमाण सामान्य की मांग है[6] जबकि परोक्षग्राहिता केवल प्रत्यक्षेतर प्रमाण की।

यदि हमें उक्त विभागीकरण को प्रामाणिक स्वरूप देना है तो 'परोक्ष' शब्द के अर्थ पर और गंभीरता के साथ विचार करना होगा। इन्द्रिय अगृहीतता ही यदि परोक्षता है तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी परोक्षग्राही होने लगेगा। क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय प्रत्यक्ष होने से पूर्व इन्द्रिय–अगृहीत ही रहता है। इन्द्रिय से गृहीत होना ही प्रत्यक्ष है। पुनः एक बार प्रत्यक्ष हो जाने के बाद इन्द्रिय व्यापार का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इस तरह हम प्रत्यक्ष एवं अनुमान के मूलभूत अन्तर को यथावत् नहीं रख पायेंगे। अतः प्रत्यक्ष–अविषय या इन्द्रिय–असम्बद्ध ऐसा ही कोई अर्थ परोक्ष शब्द का करना होगा और उसी के अनुसार अपरोक्षता की भी व्याख्या करनी होगी।

ऊपर हम कह चुके हैं कि परोक्ष दो प्रकार के होते हैं– (1) परिस्थिति वश एवं (2) स्वभावतः, और दोनों ही प्रकार के परोक्ष का ग्रहण अनुमान प्रमाण से होता है। यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि दोनों प्रकार के अनुमानों में प्रक्रियात्मक भिन्नता प्रायः देखी जाती है। प्रथम प्रकार का अनुमान मुख्य साध्य की व्याप्ति गृहीत करते हुए सीधे साध्य को सिद्ध करता है। उसका कारण मात्र इतना ही है कि उसका साध्य स्वभावतः परोक्ष नहीं होता है। अतः हेतु के साथ उसका सहचार दर्शन सम्भव हो सकता है। किन्तु दूसरे के साध्य के साथ यह समस्या है कि वह स्वभावतः परोक्ष होता है और इसलिए उसका हेतु के साथ सहचार दर्शन सम्भव नहीं है। अतः अनुमान में इतर निषेध की प्रक्रिया अपनायी जाती है। प्रमुख साध्य से भिन्न सभी सम्भावित साध्यों का निषेध करते हुए साध्य की सिद्धि की जाती है। इसे परिशेषानुमान कहते हैं। इसकी प्रारम्भिक भूमिका भी अनुमानाश्रित होती है।

वैदिकदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वद्यालय वाराणसी, 221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *प्रत्यक्ष स्थल में ''घटं साक्षात्करोमि'', अनुमिति स्थल में ''अनुमिनोमि'' इत्यादि।*
2. *नैयायिकों का मानना है कि प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत रूप कारण होता है (उद्भूत रूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति ....) चक्षुरिन्द्रिय में विद्यमान रूप में अनुद्भूत होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।*
3. *गुरुत्वादृष्टभावना अतीन्द्रियाः...... कारि. ।*
4. *नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभावनियमः, न्या. सि. मुक्तावली*
5. *वहीं (तादृशनियमे मानाभावः)*
6. *अनधिगतविषयं प्रमाणम्–धर्मोत्तर, तथा–अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानं प्रमा– धर्मराजाध्वरीन्द्र, तथा– असन्दिग्ध–अविरीत–अनधिगतविषयकचित्तवृत्तिः प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति– सा. त. कौ. का. 4।*

ISSN 0974 0053